श्री महावीर जैन साहित्यमाला : : पहला पुष्प

महामंत्र-नवकार

लेखक

जैनाचार्य पूज्य श्री पृथिवीचन्द्र जी म. के सुशिष्य

कविरत्न उपाध्याय श्री अमरचन्द्र जी महाराज

द्रव्य दाता

सेठ, ज्वाला प्रसाद जी, जगदंबा प्रसाद जी

७१, बड़तल्लास्ट्रीट, कलकत्ता।

प्रकाशक

श्री महावीर साहित्य मंडल

फरीदकोट (पंजाब)

अकतूबर, १९४१

स्वर्गीय

जैनाचार्य पूज्य श्री मोतीराम जी महाराज,

तथा

जैनसमाजभूषण सेठ ज्वाला प्रसाद जी जैन

की

पुण्य स्मृति

आशीर्वचन

{ जैन धर्म दिवाकर आगमरत्नाकर उपाध्याय
श्री आत्माराम जी म. }

महामंत्र नवकार पर सब प्रकार से विशद प्रकाश डालने वाली यह पुस्तिका, जिज्ञासुओं के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी। भाषा परिमार्जित है सरल है और विषयसंकलना औचित्यपूर्ण है। प्रस्तुत विषय से सम्बन्धित आधुनिक प्रश्नों पर आधुनिक ढंग से वहुत उपयोगी चर्चा की गई है। कई स्थानों पर नवाङ्क के महत्त्व की कल्पना द्वारा नवकार मंत्र की महत्ता अद्भुत ढंग से वर्णित की गई है। पुस्तक के अन्त मे भी नव ९ अङ्क द्वारा आत्मा की शुद्धि, अशुद्धि की चमत्कारिणी कल्पना की गई है। परिशिष्ट भाग से पुस्तक की उपादेयता और भी वढ़ गई है। यह पुस्तिका जैनों एवं नवकार मन्त्र के श्रद्धालु अजैनों के लिए भी बड़े काम की है। महामन्त्र नवकार के जिज्ञासुओं को इस का वांचन, चिंतन और मनन करना चाहिए।

आदर्श सन्त

जैनाचार्य पूज्य श्री मोतीराम जी म. जैन-संसार के एक प्रकाशमान सूर्य हो गए हैं। आप ने यू. पी., हरियाणा, राजपूताना आदि प्रान्तों मे जैन धर्म की वह महान अभिवृद्धि की है, जो चिर संस्मरणीय रहेगी। दाहा, टीकरी आदि अनेक नवीन क्षेत्र आप के ही प्रतिबोधित हैं। आप का गंभीर आगम-ज्ञान सर्वतः सुप्रसिद्ध है। आचारांग आदि २६ सूत्र आपके हाथ के लिखे हुए हैं, जो आपके आगमाभ्यास का महान परिचय दे रहे हैं।

विक्रमार्क १६२५ ज्येष्ठ कृष्णा सप्तमी के दिन सिघाणा (जयपुर) में अग्रवाल वंशीय सेठ रामधन जी के यहाँ आप का जन्म हुआ। सं १६४१ वैशाख मे जब कि विवाह की तैयारी हो रही थी, पूज्यपाद श्री मंगलसेन जी म. के पास दीक्षा ग्रहण की। सं: १६८८ फाल्गुन मे आचार्यपदारूढ हुए, जिस के महान समारोह का श्रेय आप के गृहस्थ-शिष्य सेठ ज्वाला प्रसाद जी (महेन्द्रगढ़) ने लिया। खेद है कि अधिक दिनों तक संघ को आप का

महान नेतृत्व नहीं मिल सका, सं: १६६२ श्रावण वदी चौदस के दिन समाधिपूर्वक स्वर्गारोही हो गए। आज आप भूतल पर साक्षात विद्यमान नहीं है, परन्तु आप के महान आदर्श आज भी हमारे सामने उसी प्रकार दैदिप्यमान है। हर्ष है कि आप के पट्टाधिकारी जैनाचार्य पूज्य श्री पृथिवीचन्द्र जी म. आप के अभाव की पूर्ति कर रहे हैं, बड़ी ही योग्यता से जिनशासन की सेवा कर रहे हैं, एवं जैन-धर्म का महान गौरव बढ़ा रहे हैं।

किशोरी लाल जैन,
बी. ए. एल. एल. बी.
फरीदकोट (पंजाब)

आदर्श गृहस्थ

श्रावण कृष्णा प्रतिपदा विक्रमार्क १९५० जैन-संसार के महान सौभाग्य का दिन है। इस दिन जैन-समाज भूषण, दानवीर, सेठ ज्वाला प्रसाद जी ने रा: ब: सेठ सुखदेव सहाय जी हैदराबाद दक्षिण के यहां पुत्र रूप में जन्म लेकर संसार के लिए वे महान उपकार किए, जो इतिहास मे युग युगान्तर तक चिरंजीव रहेंगे।

आचारांग आदि ३२ सूत्रों का अमूल्य प्रकाशन, जिनेन्द्र गुरुकुल पंच कूला का शिलान्यास, साहित्य भवन तथा पुस्तकालय आदि का उद्‌घाटन, पूज्य श्री मोतीराम जी म. का महान आचार्यपद महोत्सव, हजारों मूक पशुओं को जीवन दान, किं वहुना ४२ वर्ष के अल्प जीवन मे चार लाख से भी ऊपर द्रव्य धर्म कार्यों में खर्च कर जैन-संसार की वह सेवा की, जो कभी विस्मृत न होगी।

हर्ष है कि आप की दान परंपरा को श्रीमती सेठानी जी, तथा सुयोग्य भानजे बा: जगदंबाप्रसाद जी, (आप बहुत उदार, शिक्षित, एवं कार्यदक्ष युवक हैं। आर. बी एस. जैनरबर मिल लिलुआ का

संचालन आप बड़ी ही योग्यता से कर रहे हैं।) अब भी बड़ी शान के साथ कायम रक्खे हुए है। पूज्य श्री मोतीराम जी म तथा सेठ ज्वाला प्रसाद जी की पुण्य स्मृति मे स्थापित 'श्री महावीर साहित्य मंडल' पर आप का वरद हस्त है। अन्य संग ओं के समान 'मंडल' को भी आप का महान संरक्षण प्राप्त है।

स्वर्गीय सेठ साहब के समान ही आप भी पूज्य श्री पृथिवी चन्द्र जी म. के प्रति असीम श्रद्धा भक्ति रखते हैं एवं उनके उपदेशानुसार अधिक से अधिक समाज की सेवा करते रहते हैं।

स्वर्गीय सेठ साहिब के सुपुत्र चि. माणकचन्द्र चि. महावीर प्रसाद भी बड़े ही होनहार बालक है। दोनों पुत्रों का भी पिता जी के समान ही अखण्ड धर्म प्रेम है। आशा है जैन जाति के ये उज्वल रत्न अपने समय पर अधिक से अधिक चमकेंगे, तथा समाज की सब भाँति सेवा बजा कर संसार में अपनी अलौकिक प्रभा फैलाएँ गे।

किशोरी लाल जैन
बी. ए एल. एल. बी.
फरीदकोट (पंजाब)

स्वर्गीय

जैन समाज भूषण, दानवीर

सेठ श्री ज्वाला प्रसाद जी जैन

महेन्द्र गढ़ (पटियाला)

धन्यवाद

जैन समाज भूषण दानवीर सेठ ज्वाला प्रसाद जी को कौन नहीं जानता, जैन समाज का बच्चा बच्चा आपके शुभ नाम से हर्ष गद् गद् हो उठता है! बा जगदंबाप्रसाद जी. सेठ साहब के भानजे हैं, आप बड़े ही योग्य, शिक्षित एवं उदार हृदय युवक है।

जैनाचार्य पूज्य श्री पृथिवीचन्द्र जी म. के प्रति आप की श्रद्धा भक्ति प्रशंसनीय है। हर्ष है कि प्रस्तुत चातुर्मास मे पूज्य श्री के दर्शनों के लिए आपका फरीद्कोट में आना हुआ, फलतः हमे भी आप की सेवा का थोड़ा बहुत लाभ मिल सका। आप ने स्वर्गीय सेठ जी की ओर से जैन कन्या पाठशाला को १००) तथा साहित्य मंडल को ३००) रु प्रदान कर हमारा अतीव उत्साह बढ़ाया है। मंडल की ओर से हम आप का धन्यवाद करते हैं, तथा आशा रखते हैं—भविष्य मे भी आप की उदारता का लाभ मंडल को मिलता रहेगा।

निवेदक—
किशोरीलाल जैन वकील,
फरीद्कोट (पंजाब)

महामंत्र

नवकार

" जिण-सासणस्स सारो,

चउद्दस-पुव्वाण जो समुद्धारो।

जस्स मणे नव-कारो,

संसारो तस्स किं कुणइ ?"

—: १ :—

नवकार मंत्र

नमो अरिहंताणं

नमो सिद्धाणं

नमो आयरियाणं

नमो उवज्झायाणं

नमो लोए सव्वसाहूणं

एसो पंच नमुकारो

सव्व-पाव-प्पणासणो

मगलाणं च सव्वेसिं

पढमं हवइ मंगलं

(भगवती सूत्र)

—: २ :—

महिमा

नवकार मंत्र, जैनधर्म का सब से बड़ा प्रभाव शाली अनादि सिद्ध मंत्र है। जैनसाहित्य का प्रत्येक भाग नवकार मंत्र के गौरव-गान से गुंजित है जैनाचार्यो ने कहा है कि चौदह पूर्व का विशाल ज्ञान एक तरफ़ और नवकार मंत्र की महत्ता एक तरफ़, कल्पना कीजिये दोनों को तोला जाय तो नवकार मंत्र का ही पलड़ा भारी रहेगा।

नवकार मंत्र के द्वारा साधक की आत्मा में आध्यात्मिक शक्तियां जागृत होती हैं, वासनाओं का वेग क्षीण होता है, मन विशुद्ध होता है और एक दिन पामर से पामर मनुष्य भी महान आत्मा होकर महापुरुषों की श्रेणि में सम्मिलित हो जाता है।

आध्यात्मिक ही नहीं, नवकार मंत्र हमें सांसारिक सुखों के द्वारा भी सुखी बना देता है। विकट से विकट कार्य भी इस से सिद्ध हो जाते हैं। रोग-शोक सन्ताप सब दूर हो जाते हैं। प्रातःकाल शुद्ध हृदय से जाप करने वाले का सारा दिन आनंद मंगल से समाप्त होता है, उसे किसी भी विघ्न-बाधा का सामना नहीं करना पड़ता।

श्रीपाल राजा के कुष्ठ रोग को नष्ट करने वाला कौन था ? सेठ सुदर्शन के लिए शूली का स्वर्ण सिहासन वनाने वाला कौन था ? सुभद्रा सती के हाथों छलनी से पानी निकलवाने वाला कौन था ? जैनों का कथा साहित्य उक्त सब प्रश्नों का उत्तर एक स्वर से यही देता है कि नवकार, नवकार, नवकार । भले ही आज के श्रद्धाशून्य लोगों को ये घटनाएं अविश्वसनीय मालूम देती हों; परन्तु जिन्हों ने शुद्ध हृदय से साधना की थी, जिन्हों ने भयंकर से भयंकर कष्टों में भी अपनी श्रद्धा ढीली न की थी, जिन के लिए नवकार ही सब कुछ था, उन से पूछिये, वे कहेंगे—सच्ची श्रद्धा और दृढ़ संकल्प के आगे कुछ भी असम्भव नहीं ।

नवकार में महान् शक्ति है । प्राचीन आचार्य कहते हैं कि यदि शुद्ध भाव से नवकार मंत्र के एक अक्षर का भी जाप किया जाय तो सात* सागरोपम का पाप नष्ट हो जाता है। सम्पूर्ण नवकार के जाप से पांच सौ सागरोपम का पाप नष्ट होता है। और तो और तीर्थंकर गोत्र तक का बन्ध भी नवकार द्वारा हो सकता है। विधिपूर्वक मन, वचन और

*कल्पसूत्र, कल्पलतावृत्ति

शरीर की शुद्धि के साथ एक लाख वार नवकार जपने वाला तीर्थंकर वन सकता है और सदाकाल के लिए अजर अमर मोक्षधाम में पहुँच सकता है।

नवकार मंत्र की महिमा का वर्णन साधारण बुद्धि वाले लोग तो क्या कर सकते है ? केवल ज्ञान और केवल दर्शन के धर्ता श्री अरिहन्त प्रभु भी इस की महिमा का पूर्ण वर्णन नहीं कर सकते। एक मरुधर कवि इस सम्बन्ध मे वड़े ही हृदय-स्पर्शी शब्दों मे अपना भाव कह गए हैं :—

आगे चौवीसी हुई अनन्ती,
होशे वार अनन्त ।
नवकार तणी कोई आद न जाणे,
एम भाखे अरिहंत ॥

——:——

—: ३ :—

अक्षय नवाङ्क

नवकार को अनेक नामों से परिबोधित किया जाता है। इसे नमस्कार मंत्र भी कहते हैं। इस लिए कि इस में महापुरुषों की सेवा में नमस्कार की जाती है। इसे परमेष्ठी मंत्र भी कहते हैं, इस लिए कि यह परम = उत्कृष्ट, स्थिति = दशा मे पहुँचने वाले महापुरुषों के स्वरूप का भान कराता है। और भी कितने ही नाम हैं, जिन के विस्तार में जाने का यहां अवकाश नहीं।

सब से प्रसिद्ध नाम नवकार ही है। हमे इसी के विषय में बताना है कि इस का क्या महत्व है?

नवकार के नव = नौ पद हैं, अत. इसे नवकार कहते हैं। भारतीय साहित्य में नव का अङ्क अक्षय सिद्धि का सूचक माना गया है। दूसरे अङ्क एक, दो, तीन, चार, पांच आदि अखण्ड नहीं रहते, अपने स्वरूप से च्युत हो जाते हैं। परन्तु नव का अङ्क ही एक ऐसा अङ्क है, जो हमेशा अखण्ड बना रहता है। दूसरे अङ्कों के साथ मिश्रित होने पर भी कभी अपने निज रूप को नहीं छोड़ता, अन्तिम रूप में अपने स्वरूप को सब से अलग व्यक्त कर ही देता है।

उदाहरण के लिए सर्वप्रथम हम नव अर्थात् नौ के पहाड़े को लेते हैं। आप सावधानी के साथ नव का पहाड़ा गिनते जाइए और आगे जोड लगाते जाइए। आप को सर्वत्र नव का अङ्क ही शेष रूप में उपलब्ध होगा :—

९ + ९
१८ = १ + ८ = ९
२७ = २ + ७ = ९
३६ = ३ + ६ = ९
४५ = ४ + ५ = ९
५४ = ५ + ४ = ९
६३ = ६ + ३ = ९
७२ = ७ + २ = ९
८१ = ८ + १ = ९
९० = ९ + ० = ९

आप की समझ में ठीक तौर से आ गया होगा कि आठ और एक नौ, सात और दो नौ, छ. और तीन नौ, पांच और चार नौ—इस भांति सब अङ्कों में गुणाकार के द्वारा नवाङ्क का अखण्ड स्वरूप स्पष्ट रूप से प्रगट हो जाता है।

दूसरी ओर एक से ले कर आठ तक के जितने भी पहाड़े हैं, सब अपने स्वरूप से हट जाते हैं, कोई भी अखण्ड रूप मे नहीं बचता। गणित शास्त्र की यह साधारण सी प्रक्रिया नव के अंक की अक्षय स्वरूपता का खासा परिचय दे देती है।

यही नहीं, और भी अपनी इच्छा के अनुसार सैंकडों, हजारों, लाखों के अंक लिखते जाइए, अनुक्रम से जोड़ते जाइए, जहां तक नवाङ्क शेष न आवे शेषाङ्क को कम करते जाइए, जो अंक शेष रहे उसे फिर गिनते आइए और बाकी निकालते जाइए, अन्त मे शेष नवाङ्क ही आवेगा। यह सिद्धान्त पूर्ण सत्य है, उदाहरण पर ध्यान दीजिए —

५३४८	३२३५
२०	१३
५३२८	३२२२=६
१८=६	

देखिए बांई ओर पांच हजार, तीन सौ, अडतालीस लिखे हुए है। इन अंकों को परस्पर मे गिना तो पांच, तीन, चार, आठ—बीस हो गए। बीस के अंक को पांच हज़ार, तीन सौ, अडतालीस में से कम किया तो शेष पांच हज़ार, तीन सौ,

अट्ठाईस रह गए। अब इन को गिना गया तो पांच, तीन, दो, आठ—पूरे अठारह हो गए। बस अट्ठारह के अंक को एक और आठ के रूप मे मिलाया गया तो नौ का अंक ही शेष आया।

नवाङ्क के अक्षय रूप का यह मात्र साधारण सा परिचय है। कितनी ही विशाल संख्या में अंक रख कर गणित करिये, आप को सब कही 'नौ' का अंक ही शेष रूप मे सुरक्षित मिलेगा। यह कभी भी ...त नही होगा। नवकार मंत्र मे नव पद का गौरव भी इसी अक्षय रूप को लेकर है।

जो मनुष्य श्रद्धा के साथ नवकार का जाप करने वाले है, उन को किसी प्रकार की कमी नहीं रह सकती। जो कुछ भी कमी है, श्रद्धा की है। श्रद्धा का वेग बढ़ाइए, चौदह पूर्व का सार अन्तर्हृदय मे उतारिए, फिर देखिए - संसार की समस्त ऋद्धि सिद्धियां आप के चरणों में किस भांति दौड़ी दौड़ी आती हैं। आप की अन्तरंग की दुनिया भी अक्षय अखण्ड रहेगी और बाहर की दुनिया भी। नवपद का नवाङ्क आप को प्रत्येक उन्नति की दिशा में अक्षय एव अखण्ड पद पर पहुचाएगा।

— ४ —

स्वरूप-दर्शन

पाठकों के मन में संकल्प उठ रहा होगा कि नवकार मे किस विषय का वर्णन है? जब तक श्लोक, गाथा, या मंत्र के वास्तविक अर्थ का पता न हो, तब तक पूर्ण रूप से उस के प्रति हृदय आकृष्ट नहीं होता। अतः सत्तेप मे प्रत्येक पद का भावार्थ यहां बतलाया जा रहा है:—

नमो अरिहंताणं

नमस्कार हो श्री अरिहन्तों को

नमो सिद्धाणं

नमस्कार हो श्री सिद्धों को

नमो आयरियाणं

नमस्कार हो श्री आचार्यों को

नमो उवज्झायाणं

नमस्कार हो श्री उपाध्यायों को

नमो लोए सव्वसाहूणं

नमस्कार हो लोक में, दुनिया मे सब साधुओं को

एसो पंच नमुक्कारो

यह पंच नमस्कार

सव्व–पाव–प्पणासणो

सब पापों का नाश करने वाला है

मंगलाणं च सव्वेसि

समस्त मंगलों मे

पढमं हवइ मंगलं

(यह) प्रथम मंगल है

नवकार के दो भाग हैं। प्रथम गद्य भाग मे आध्यात्मिक जीवन मे विकाश प्राप्त करने वाले अथवा कर चुकने वाले महापुरुषों को नमस्कार किया गया है। दूसरे पद्य भाग मे नवकार के फल का वर्णन करते हुए बताया गया है कि आधि-व्याधि से पूर्ण संसार मे पंच परमेष्टी को नमस्कार करना ही परम मंगल है।

प्रथम भाग के पांच परमेष्टी पदों का पृथक् पृथक् स्वरूप लिखा जाता है:—

(१) अरिहंत—जो महा रुप संसार की भोग-वासनाओं को त्याग कर उत्कृष्ट संयम का पालन करते हैं और उस के द्वारा सर्वज्ञता के पद पर पहुच जाते हैं, उन्हें अरिहंत कहते हैं। उन के ज्ञान में तीन लोक के पदार्थ पूर्ण रूप से प्रति भासित होते रहते हैं। भूत, भविष्यत और वर्तमान तीनों काल की

बातों का उन्हें पूरा पूरा ज्ञान होता है। वे राग द्वेष काम क्लेश, मात्सर्य आदि से सर्वथा रहित होते हैं।

अरिहंत का शाब्दिक अर्थ यह है कि अरि+हंत। अर्थात् अरि=शत्रु, हत=हनन करने वाले। शत्रुओं के मारने वाले, नष्ट करने वाले। क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, आदि कुविकाररूपही आत्मा के वास्तविक शत्रु हैं, इन्हीं के द्वारा बाह्य जगत के स्थूल शत्रु उत्पन्न होते हैं; अतः जो इन शत्रुओं को परास्त कर—आत्मविशुद्धि का पूर्ण साक्षात्कार कर केवल ज्ञान (पूर्ण ज्ञान) प्राप्त करता है, वह 'अरिहन्त' पद के गौरवशाली पद पर पहुँचता है।

(२) सिद्ध—जो आत्मा कर्म मल से सर्वथा मुक्त हो कर मोक्ष दशा में पहुँच जाते हैं, वे सिद्ध कहलाते हैं। मोक्ष दशा मे आत्मा शरीर से रहित होता है, कोई भी आधिव्याधि उस को नही होती। केवल ज्ञान की ज्योति का पूर्ण प्रकाश वहां अनन्त-काल के लिए जगमगाता रहता है। आध्यात्मिक सुखों का प्रवाह आत्मा मे बहता रहा है। मोक्ष दशा को पाकर फिर कभी जन्म मरण के फंदे मे आत्मा नहीं फंसता। अस्तु, अरिहन्त पद के बाद शरीर को छोड़ कर जो आत्मा सिद्ध=पूर्ण हो

जाते है, वे सिद्ध हैं।

(३) आचार्य—जो धार्मिक आचारों का-नियमों का स्वयं पालन करते हैं, दूसरों से कराते हैं, आचार पद्धति से पतित होने वाले दुर्बल व्यक्तियों का धर्म-बोध के द्वारा उद्धार करते हैं, उन को आचार्य कहते हैं। आचार्य साधु-संघ के नायक होते हैं धर्म की रक्षा का भार उन के कंधों पर होता है पूर्ण न्याय नीति के साथ वे सत्य धर्म की ध्वजा संसार मे फरकाते हैं।

(४) उपाध्याय—जो स्वयं ज्ञान का अभ्यास पूर्ण रूप मे करते हैं, और दूसरों को भी योग्यतानुसार ज्ञान-ध्यान कराते है, सत्य का महत्व समझाते हैं धर्म ग्रन्थों के नये से नये रहस्य निकाल कर संसार के समक्ष रखते हैं, वे उपाध्याय कहलाते हैं। उपाध्याय का पद बड़ा ही ऊंचा है। आध्यात्मिक शिक्षा देने का भार कुछ मामूली नहीं होता। ज्ञान-दान का देना, अन्धों को आंख देने से भी कहीं बढ कर हैं।

(५) साधु—पांचवां पद साधु का है। साधु वह, जो साधना करता है, अन्तरात्मा पर अंकुश रखता है, वासनाओं के जाल में नहीं फंसता है।

साधु के पांच महाव्रत (पूर्ण अहिंसा, पूर्ण सत्य, पूर्ण अस्तेय - अचौर्य, पूर्ण ब्रह्मचर्य, और पूर्ण अपरिग्रह-निर्लोभता) हैं। जो पांच महाव्रतों का मन, वचन, और शरीर के द्वारा पूर्णतया पालन करने का प्रयत्न करता है, वही सच्चा साधु है।

ज्ञान और क्रिया—दोनों का बराबर सन्तुलन बनाये रखना, साधु का परम कर्तव्य है। ज्ञानशून्य क्रियाकाण्ड किसी काम का नहीं। और इसी प्रकार आचरणशून्य ज्ञान केवल मस्तिष्क मे भार ही है। साधु-जीवन त्याग और वैराग्य के आदर्श का एक महान ज्वलन्त प्रतीक होता है।

उपर्युक्त पांचों पदों को दो विभागों में विभक्त किया जाता है—एक देव और दूसरा गुरु। अरिहन्त और सिद्ध आत्मविकाश की पूर्णता पर पहुँचे हुए हैं, अतः पूर्णतया दिव्य रूप होने से 'देव' कोटि मे गिने जाते हैं। तथा आचार्य, उपाध्याय, साधु आत्मविकाश की अपूर्णता में ही हैं, पूर्णता के लिए प्रयत्न शील हैं, अतः अपने से उच्च श्रेणी में पहुचे हुए अरिहंत तथा सिद्ध रूप देवतत्व के पूजक और अपने से निम्न श्रेणी में रहने वाले साधारण भव्य पुरुषों के पूज्य होने से गुरुतत्व की

कोटि मे गिने जाते हैं। प्रत्येक साधक के जीवन मे देव और गुरु ही महान माने गये हैं, सो नवकार के द्वारा देव और गुरु दोनों को एक साथ ही नमस्कार कर ली जाती है।

यद्यपि निष्कलंकता की उत्कृष्ट दशा मे पहुँचे हुए पूर्ण विशुद्ध आत्मा 'सिद्ध' ही हैं, अत: उन्हीं को सर्व प्रथम नमस्कार की जानी चाहिए थी। परन्तु सिद्ध भगवान के परोक्ष स्वरूप को बताने वाले और अज्ञानान्धकारमग्न मानव संसार को भगवान सत्य की ज्योति के दर्शन कराने वाले अरिहन्त भगवान ही हैं, अत. उनको ही सर्वप्रथम नमस्कार किया गया है। यह व्यावहारिक दृष्टि की विशेषता है।

प्रश्न हो सकता है—इस प्रकार तो साधु को ही सर्वप्रथम नमस्कार करनी चाहिए,क्योंकि हमारे लिए तो वही सत्य का उपदेष्टा है। बात ठीक सी है, पर जरा गंभीर विचार करेंगे तो वास्तविकता मालूम हो जायगी। बात यह है कि सर्व प्रथम सत्य का साक्षात्कार करने वाले तो अरिहत ही हैं, उन्हों ने जो कुछ वाणी का प्रकाश किया, उसी को मुनि महाराज हमें बताते हैं। स्वयं मुनि जी तो सत्य के

साक्षात्कार करने वाले नहीं। वह तो परंपरा से आने वाली वस्तु हमे दे रहे हैं। अत सत्य के पूर्ण अनुभवी मूल उपदेष्टा होने की दृष्टि से गुरु से भी पहले अरिहंतों को नमस्कार है।

कुछ सज्जन यह कहते सुने गए हैं कि जैन अपने नवकार के द्वारा अपने ही संप्रदाय के महापुरुषों को नमस्कार करते हैं, दूसरे महापुरुषों का वे कोई आदर नहीं रखते। उन का यह कहना सर्वथा भ्रान्ति पूर्ण है। जैन समाज ने कभी भी इतना छोटा हृदय नहीं बनाया। वह सर्वदा गुणपूजा का पक्षपाती रहा है, व्यक्ति-पूजा का नहीं। जिसे भाषाशास्त्र का कुछ भी पता हो, वह देख सकता है कि नवकार में कहीं भी किसी व्यक्ति का नाम नहीं है। यहाँ मात्र आध्यात्मिक-विकाश के पद बताए हैं, अत किसी भी देश, जाति और धर्म का कोई भी व्यक्ति हो, गुणों के द्वारा अपने आप को उक्त पदों पर पहुंचाने वाला अभिवन्दनीय है।

पांचवें पद 'नमो लोए सव्वसाहूणं' में जो 'लोए' और 'सव्व' ये जो दो शब्द आये हैं, उन्हों ने तो स्पष्ट ही विशाल उदारता का चित्र खींच कर हमारे सामने रख दिया है। प्राकृत और संस्कृत में

यह नियम है कि वाक्य के प्रारंभ मे अथवा अन्त में आने वाला शब्द प्रत्येक पिछले शब्दों के साथ सम्बन्धित होता है । पंचपदात्मक नवकार मंत्र, नमस्कारात्मक एक ही भाव का प्रकाशक होने से मंत्र साहित्य की दृष्टि में एक वाक्य है । पाँचवां पद अन्तिम पद है अतः उस मे 'लोए' और 'सव्व' ये जो दो शब्द अधिक आये हैं, इन का पिछले चारों पदों से सम्बन्ध है । अस्तु उक्त नियम से नवकार मंत्र का समूचा यह अर्थ हुआ कि लोक में—अखिल संसार मे सब अरिहंतों को, सब सिद्धों को, सब आचार्यों को, सब उपाध्यायों को, सब साधुओं को नमस्कार हो । क्या अब भी कुछ संकीर्ण मनोवृत्ति का भाव बाकी रह गया है ?

——:——

—: ५ :—

ॐ—ओम्

अरिहंता असरीरा,
आयरिय-उवज्झाय-मुणिणो ।
पंचक्खर-निप्पराणो,
ॐ कारो पचपरमिट्ठी ॥

भारतीय साहित्य मे 'ॐ' का बडा ही महत्व-पूर्ण स्थान है । ॐ का शब्द अतीव पवित्र, आध्यात्मिकतापूर्ण, पापवृत्तियों को नष्ट करने वाला है । जैनाचार्यों ने कहा है :—

ओ कारं विन्दु-संयुक्तं,
नित्यं ध्यायन्ति योगिन. ।
कामदं मोक्षदं चैव,
ॐ काराय नमोनमः ॥

ॐ कार की महत्ता इसी से मालूम हो जाती है कि सब कार्यों मे प्रथम ॐ कार का ही स्मरण किया जाता है । कहीं लिखना हो, कहीं पढ़ना हो, कहीं आना हो, कोई नया कार्य करना हो, सब कही ॐ का ही गौरव देखने मे आता है ।

'ॐ' का मूल अर्थ क्या है, इस सम्बन्ध मे बहुत मतभेद हैं। वैष्णव समाज मे कुछ पंथ इसे ईश्वर का वाचक कहते हैं, कुछ ब्रह्मा, विष्णु, और महेश का वाचक बतलाते हैं। कुछ लोग अधः, ऊर्ध्व और मध्य लोक का वाचक कह कर विश्व ब्रह्माण्ड के लिये इस का उपन्यास करते हैं। परन्तु जैन धर्म की इस सम्बन्ध मे भिन्न ही धारणा है। हमारी मान्यता के अनुसार यह पंच परमेष्ठी अर्थात् नवकार का ही संक्षिप्त संस्करण है। समूचे नवकार का 'ॐ' मे समावेश हो जाता है। ज़रा ध्यान के साथ नवकार मंत्रगत पंचपरमेष्ठी के प्रथमाक्षरों से मिल कर बनने वाले ॐ कार का स्वरूप देखिए:—

अरिहंत का	अ
सिद्ध (सिद्ध का दूसरा नाम अशरीरी भी होता है, इस लिए) अशरीरी का	अ
आचार्य का	आ
उपाध्याय का	उ
साधु (साधु का दूसरा नाम मुनि भी है, इस लिए) मुनि का	म्

अब ज़रा व्याकरण के द्वारा सन्धि करें। अ+अ=आ, आ+आ=आ, आ+उ=ओ, और मुनि का म् मिल कर ओम् बन जाता है। जैनधर्म में ओम् की आकृति 'ॐ' इस प्रकार मानी जाती है।

हां, एक बात और ध्यान मे रखिए। ॐ के ऊपर जो चन्द्रबिन्दु है, उसका अभिप्राय यह माना जाता है कि अर्धचन्द्र सिद्धशिला का प्रतीक है और बिन्दु सिद्धत्व का। अतः उक्त कल्पना का यह भाव है कि ॐकार के जप के द्वारा देवगुरु दोनों का शुद्ध हृदय से स्मरण करता हुआ साधक, अन्त में सिद्ध स्वरूप को पा लेता है।

—: ६ :—

अ-सि-आ-उ-सा नमः

नवकार महामंत्र का यह एक और संक्षिप्त पाठ है। प्रत्येक पद का प्रथम अक्षर अ, सि, आ, उ, और सा के मेल से इस का निर्माण हुआ है। मंत्र साहित्य मे इस प्रकार के संक्षिप्त मंत्रों को बीजाक्षर मंत्र कहते हैं।

जैन समाज मे नवकार के इस संस्करण का भी खूब अधिक प्रचलन है। यह अनेक सिद्धियों का देने वाला और आपत्तिकाल मे हर प्रकार की सहायता पहुँचाने वाला महाप्रभावी मंत्र है। यह प्राचीन किंवदन्ती है कि भगवान पार्श्वनाथ के द्वारा इस का निर्माण हुआ है। कमठ तपस्वी की धूनी मे ...न नाग नागनी जल रहे थे तब भगवान पार्श्वनाथ ...अ, सि, आ, उ, सा, का मंत्र सुना कर ही उन का ...ार किया था। नाग नागनी ने इस मंत्र पर पूरा ...श्वास किया था, और इस के बल से नागकुमार ...ताओं के अधिपति इन्द्र और इन्द्राणी बने थे। ...वान पार्श्वनाथ के श्री मुख से कहा हुआ होने

के कारण यह अतीव पवित्र एवं प्रभावशाली पाठ है ।

उक्त मंत्र के ध्यान का भी एक विशेष प्रकार है। यदि उस ढंग से जप किया जाय तो विशेष लाभप्रद होता है। प्रथम अक्षर 'अ' कार नाभिकमल में ध्याना चाहिए। दूसरा अक्षर 'सि' मस्तक में, तीसरा 'आ' मुखकमल में, चौथा 'उ' हृदय कमल में, और पाँचवां 'सा' कण्ठ मे ध्याना चाहिए। यह विधान कठिन अवश्य है, परन्तु यदि जरा सी भी सावधानी रक्खी जाय तो यह प्रक्रिया आ सकती है। मन को एकाग्र करने मे यह प्रकार विशेष शक्ति रखता है। माला फेरने वाले सज्जनों को चाहिए कि थोड़ा थोड़ा इस प्रक्रिया का भी अभ्यास करें।

——:०:——

—: ७ :—

अनानु पूर्वी

नवकार मंत्र के पाठ का एक और विशेष प्रकार है, जिसे हम अनानु पूर्वी कहते हैं। मन की चंचलता बड़ी विकट है। अच्छे से अच्छे पाठ को भी यह धूल मे मिला देती है। पाठ करते हुए साधक का जब मन चंचल हो उठता है, इधर उधर के संसारी कामों मे भागने दौड़ने लगता है, तो हर एक साधक हताश हो कर बैठ जाता है। फिर किसी भी पाठ आदि मे उस का उत्साह जागृत नही होता।

यही कारण है कि आज जहां देखो वहीं सब लोग यही पूछते रहते है कि क्या करें, ज्यों ही माला फेरने बैठते हैं, चित्त इधर उधर भटक जाता है, एकाग्रता नहीं रहती। क्या मन को स्थिर रखने का भी कोई उपाय है? जैनाचार्यों ने बहुत पहले से ही इस का समाधान कर दिया है। वह समाधान अनानु-पूर्वी का है।

अनानु पूर्वी का आशय यह है कि नवकार मंत्रके पाँचों पदों को उलट पुलट कर के बोला जाय-पढ़ा जाय। सीधे ढंग से पढ़ने से मन अभ्यस्त हो जाता है, और वह इधर उधर घूमता रहे तो भी

जिह्वा से नवकार का जाप होता रहेगा। परन्तु जब आप उलट पुलट कर के बोलेंगे तो आप को ध्यान रखना होगा, अन्यथा आप भूल जायँगे। शून्यचित्त से अनानु पूर्वी का पाठ कभी भी नहीं हो सकता।

अनानु पुर्वी पढ़ने का प्रकार यह हैः—जहां (१) हो वहाँ 'नमो अरिहंताण' कहना। जहां (२) हो वहां 'नमो सिद्धाणं' कहना। जहां (३) हो वहां 'नमो आयरियाण' कहना। जहां (४) हो वहां 'नमो उवज्झायाणं' कहना। जहां (५) हो वहां 'नमो लोए सव्वसाहूणं' कहना। स्थापना के रूप मे दो कोष्ठक यहां लिखे जाते हैंः—

१	२	३	४	५
२	१	३	४	५
१	३	२	४	५
३	१	२	४	५
२	३	१	४	५
३	२	१	४	५

१	२	४	३	५
२	१	४	३	५
१	४	२	३	५
४	१	२	३	५
२	४	१	३	५
४	२	१	३	५

यह कोष्ठक द्वय मात्र नमूने के रूप में है। इसी प्रकार दूसरे अठारह कोष्ठक और भी होते हैं। अनानुपूर्वी की पुस्तकें प्राय हर जगह मिल जाती हैं, अतः प्रस्तुत पुस्तक मे समस्त अनानुपूर्वी का देना आवश्यक नहीं समझा गया। प्रत्येक साधक को प्रातःकाल अनानुपूर्वी का पाठ अवश्य करना चाहिए। यह प्राचीन मान्यता है कि एक बार के पाठ से छः महीने की तपस्या का फल होता है। इतना बड़ा लाभ न लेना, वस्तुतः मूर्खता ही होगी।

—:—

— ८ —

माला और आवृत्त

साधक के लिए माला बड़े महत्व की वस्तु है। माला किसी भी मंत्र के स्मरण और जप करने मे बड़ी सहायक होती है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि जप की संख्या का परिगणन अवश्य होना चाहिए। कुछ सज्जन जप-संख्या को सुन्दर नहीं समझते, वे कहते हैं कि एक बार बैठ कर जप कर लेना चाहिए, भले ही वह कितना ही हो? जप की गिनती क्या? परन्तु यह कथन भ्रान्ति पूर्ण है। जप की संख्या का निश्चित नियम होने से एक तो हर समय प्रेरणा प्राप्त होती रहती है, दूसरे उत्साह तथा लगन मे किसी प्रकार की कमी नहीं आती। जो लोग विना संख्या के जप करते हैं, उन्हें इस बात का अनुभव होगा कि जब कभी जप करते करते मन अन्यत्र घूम जाता है, तब मालूम ही नहीं होता कि जप हो रहा था या नहीं, या कितने समय जप बंद रहा। अतः माला, जप संख्या की दृष्टि से उत्तम साधन है।

मंत्र-साधना मे माला का वड़ा भारी स्थान होते हुए भी वहुत से भाई इस सम्बन्ध मे वड़े उदासीन होते हैं। केवल गिनती का साधारण सा साधन समझ कर ही इस के प्रति लापरवाह नहीं नहीं होना चाहिए। माला की प्रतिष्ठा मे ही मन्त्र की प्रतिष्ठा रही हुई है।

माला सूत, मूंगा,और चन्दन आदि किसी भी विशुद्ध अचित्त पदार्थ की ली जा सकती है। वहुत लोग सौन्दर्य की दृष्टि से रंग विरंगी माला वना लेते हैं, पर यह ठीक नहीं। माला जो भी हो एक ही रंग की हो। यह भी ध्यान रहे कि एक चीज़ की माला में दूसरी चीज़ न लगाई जाय। माला के दांने छोटे वड़े न हों। माला मे एक सौ आठ दाने ही होने चाहिएं, न कम, न अधिक। माला मे एक सौ आठ दाने नवकार मंत्रोक्त पंच परमेष्ठी पदों के एक सौ आठ गुणों के द्योतक हैं।

माला फेरते समय न स्वयं हिलना चाहिए, न माला को ही हिलाना चाहिए। माला को अधर रखना चाहिए, यह नहीं कि वह नीचे जमीन पर पड़ी रहे। पैरों का स्पर्श भी माला को न लगाना

चाहिए। माला फेरने से पहले माला के सूत्र को ध्यान से देख लेना चाहिए कि वह मजबूत है या नहीं। ऐसा न हो कि फेरते समय बीच मे टूट जाय। यदि कभी टूटने का प्रसग हो ही जाय तो गुरुदेव से विधिवत् प्रायश्चित्त करना चाहिए। माला को ढीली अंगुलियों से भी नहीं पकड़ना चाहिए, ताकि बीच बीच मे हाथ से छूट छूट कर गिरती रहे। जप करते समय माला का हाथ से गिर जाना अच्छा नहीं होता। अङ्गुष्ठ और मध्यमा या अनामिका के द्वारा ही जप होना चाहिए। तर्जनी से माला का जप करना निषिद्ध है। माला फेरते समय दानों को नख लगाना भी वर्जित है। माला में जो सुमेरु होता है, वह बहुत सुन्दर होना चाहिए। सुमेरुहीन माला उचित नहीं होती। यह भी ध्यान मे रखना चाहिए कि एक माला समाप्त कर जब दूसरी माला फेरनी हो तो सुमेरु नहीं लांघना चाहिए। बल्कि अन्तिम दाने से फिर वापस लौट कर पढ़ना चाहिए। भले ही ये बातें बुद्धिवादी सज्जनों को कोई विशेष महत्वशाली न मालूम दें परन्तु इन का जपशुद्धि मे असाधारण स्थान है।

जप-परिगणन का एक और भी साधन है जो माला की अपेक्षा भी अधिक सुन्दर है। यह साधन आवृत्त कहलाता है, इसे कर-माला भी कहते हैं। आवृत्त के ढंग से जप करने वाले साधक का मन अधिक स्थिर हो सकता है।

आवृत्त के पांच प्रकार हैं:— आवृत्त, शंखावृत्त, ॐ वृत, ह्रीँ वृत्त और नन्दावृत्त। आवृत्त की प्रक्रिया यह है कि कनिष्ठिका के मूल भाग से अग्रिम भाग तक तीन पर्व, फिर क्रमशः अनामिका मध्यमा और तर्जनी का अग्रिम पर्व, फिर तर्जनी का मध्य एवं मूल पर्व, फिर क्रमशः मध्यमा का मूल पर्व, अनामिका का मूल पर्व, अनामिका का मध्य पर्व, और मध्यमा का मध्य पर्व। यह प्रथम आवृत्त का प्रकार हुआ।

दूसरा शंखावृत्त है। इस का प्रकार यह है:— सर्व प्रथम मध्यमा का मध्य पर्व। तदनन्तर क्रमशः अनामिका का मध्य, अनामिका का मूल, कनिष्ठिका का मूल, मध्य, अग्र, अनामिका का अग्र, मध्यमा का अग्र, तर्जनी का अग्र, मध्य और मूल, मध्यमा का मूल।

तीसरा ॐवृत्त है। इस की प्रक्रिया भी खास ध्यान देने योग्य है। सर्व प्रथम मध्यमा का मध्य

पर्व। इस के पश्चात् क्रमशः अनामिका का मध्य, अनामिका का अग्र, मध्यमा का अग्र, तर्जनी का अग्र, मध्य और मूल, मध्यमा का मूल, अनामिका का मूल, फिर कनिष्ठिका का मूल, मध्य, और अन्तिम पर्व।

चौथा ह्रीँ वृत्त है। इस का जप इस प्रकार होता है — सर्व प्रथम तर्जनी का अग्र पर्व। तदनन्तर क्रमश मध्यमा का अग्र, अनामिका का अग्र, कनिष्ठिका का अग्र और मध्य, अनामिका का मध्य, मध्यमा का मध्य तर्जनी का मध्य और मूल, मध्यमा का मूल, अनामिका का मूल, कनिष्ठिका का मूल।

पाँचवां नन्द्यावृत्त है। इस मे कनिष्ठिका को बिल्कुल ही छोड़ दिया जाता है। शेष तीन अंगुलियों पर ही जप किया जाता है। जैसे कि सर्वप्रथम तर्जनी का अग्र पर्व। तत्पश्चात् क्रमश. तर्जनी का मध्य और मूल, मध्यमा का मूल, अनामिका का मूल, मध्य और अग्र, मध्यमा का अग्र और मध्य पर्व।

प्रथम के चार वृत्त—अर्थात् आवृत्त, शंखावृत्त, ॐवृत्त और ह्रीँ वृत्त मे एक बार के जप की संख्या बारह होती है। अतः नौ बार कर माला यानी आवृत्त जपने से एक सौ आठ संख्या की पूरी माला हो जाती है। परन्तु नन्द्यावृत्त में एक

बार के जप की संख्या नौ ही होती है। अतः बारह बार आवृत्त करने से माला पूर्ण हो जाती है।

प्राचीन आचार्यों ने पांचों आवृत्तों से जप करने के फल भी अलग अलग बताए हैं। प्रथम साधारण आवृत्त शान्ति, तुष्टि एवं पुष्टि का देने वाला है। दूसरा शंखावृत्त आधिदैविक आदि की पीड़ा को दूर करता है, मनः कामना शीघ्र पूर्ण होती है, शान्ति मिलती है। तीसरा ॐवृत्त अद्भुत चमत्कारी है। इस के जाप से समस्त आपत्तिया दूर हो जाती हैं, आत्मा में अनेकानेक सिद्धियों का आविर्भाव होता है। चौथा ह्रींवृत्त रोगादि दूर करने वाला है, सम्मान बढ़ाने वाला है। पांचवां नन्द्यावृत्त तो नाम से ही आनन्द मंगलकारी होने की सूचना देता है। यह लाभ आदि की विचारधारा संसारी कामना वालों के लिए है। आध्यात्मिकता-प्रेमी सज्जनों के लिए तो संसार का स्वार्थ कुछ होता ही नहीं। उन की तो सद्भावना आत्म-शुद्धि की ही होती है। अतः उन के लिए तो प्रत्येक आवृत्त आदरणीय है। वे किसी भी एक आवृत्त को स्वीकार करके आत्म-शुद्धि पा सकते है।

आवृत्त यानी कर-माला से जप करते समय अंगुलिया अलग अलग नहीं होनी चाहिएं। हथेली थोड़ी-सी मुडी रहनी चाहिए। हाथ को हृदय के सामने ला कर, अंगुलियों को कुछ टेढ़ी करके, जहा तक हो सके वस्त्र से ढंक कर दाहिने हाथ से ही जप करना चाहिए।

आवृत्त की प्रणाली बड़ी गंभीर है। इस में ज़रा भी असावधानी नहीं रहनी चाहिए। जो सज्जन आवृत्त से जप करेंगे, उन्हें कुछ ही दिनों में मालूम हो जायगा कि इस मे कितना आनन्द है?

———:0———

—: ६ :—

शुद्धि

मन्त्र साधना के लिए शुद्धि की वडी आवश्यकता है। वैसे तो मनुष्य आखिर मनुष्य ही है, कुछ पशु तो नहीं है, जिसे शुद्धि की आवश्यकता ही न हो। मनुष्य को अपने प्रत्येक कार्यों में वहुत शुद्ध रहना चाहिए। विशेष कर स्तोत्र पढ़ने में, इष्टदेव का स्मरण करने मे, मन्त्र साधना मे तो इस बात का पूरा पूरा ध्यान रखना ही चाहिए। अशुद्धि की दशा में मंत्र जप करने से लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक प्राप्त होती है।

स्थान शुद्धि:—

सर्व प्रथम तो जहां जप करना हो, वह स्थान ही देखना चाहिए कि जप के उपयुक्त है या नही? वहुत से लोग कहीं भी गंदी जगह पर वैठ जाते हैं, और माला फेरनी शुरू कर देते हैं। भला जहां इधर उधर मिट्टी पड़ी हो, गंदगी के ढेर लगे हों, वदबू नाक मे चढ़ रही हो, मक्खी, मच्छर भिनभिना रहे हों, वहां क्या खाक जाप होगा?

बहुत सी बार ऐसा देखा गया है कि स्थान तो शुद्ध होता है, परन्तु वातावरण शान्त नहीं होता। जहां बालक कोलाहल करते रहते हों, नौकर वगैरह लडते झगडते हों, तो वह स्थान कितना ही शुद्ध क्यों न हो, जप के लिए कदापि आदरणीय नहीं हो सकता। अतः जिस स्थान पर स्थिरता से बैठने में किसी प्रकार की आशङ्का अथवा आतङ्क न हो, अशिष्ट पुरुष, मक्खी, मच्छर, सर्प आदि किसी प्रकार का विघ्न न डाल सकते हों, जहां किसी प्रकार की अशुचि एवं घृणा न हो, और जो चित्त की एकाग्रता में सहज भाव से साधक हो, वही स्थान जप करने के लिये उत्तम माना गया है।

शरीर शुद्धिः—

जप क्रिया के समय शरीर-शुद्धि का होना भी परमावश्यक है। दूषित, मलक्लिन्न एवं अशुचि-युक्त शरीर चित्त-शुद्धि में सहायक नहीं होता। प्रत्युत कभी कभी तो चित्त में ग्लानि के भाव भर देता है और जप के महत्व को क्षीण कर डालता है। बहुत से सज्जन बिना शरीर-शुद्धि की ओर लक्ष्य दिए यों ही अस्त व्यस्त अशुचि दशा में ही जप करने

बैठ जाते हैं और उत्कृष्ट संयमी होने का दम भरने लगते हैं, उन्हें ऊपर की पंक्तियों पर खास तौर पर ध्यान देना चाहिए। आगम में कहीं भी शरीर को गंदा बनाये रखने का विधान नहीं है।

वस्त्र शुद्धि:—

शरीर शुद्धि के साथ वस्त्रों की शुद्धि भी अवश्य होनी चाहिए। मलिन वस्त्र के पहनने मे कोई बुद्धि-मत्ता नही हैं, और न यह त्याग का कोई विशिष्ट चिन्ह ही है। बहुत से सज्जन घर या दुकान से भगे भगे आते हैं और आते ही उसी सड़ी धोती को पहने जप करने लग जाते हैं। वे यह नहीं सोचते कि-भजन के वस्त्र अलग रक्खें। व्यर्थ ही आलस्यवश प्रभु-भजन के समय भी इस गदगी को ढोते रहें।

आसन भी पवित्र तथा स्वच्छ रहना चाहिए। यह न हो कि वर्षों के वर्ष बीत जाने के बाद चाहे कैसा ही क्यों न धूली-धूसरित हो जाय, गंदा हो जाय, दाग-दगीला हो जाय, परन्तु फिर भी उस की शुद्धि का नाम न लें। काला और नीले रंग का आसन भी अग्राह्य है। जहां तक हो सके श्वेत तथा विशुद्ध खादी के वस्त्र का ही आसन बनाना चाहिये।

मुख-वस्त्रिका का स्वच्छ रखना भी जरूरी है। मुख-वस्त्रिका साधक के मुख का पवित्र अलंकार है, हमारी आन्तरिक शुचिता का प्रतीक है। अतः यह मलिन रहे, सड़ती रहे, या अस्तव्यस्त रहे, यह ठीक नहीं। आज के जैनों का मुख-वस्त्रिका के प्रति अनादर महान दु ख की बात है। सामायिक आदि के अवसर पर जब लोगों को मलिन मुख वस्त्रिका से सुसज्जित=कुसज्जित देखते हैं, तो अन्तर्हृदय मे तीव्र वेदना पैदा हो जाती है, आँखें लज्जा से नीचे झुक जाती हैं।

माला शुद्धिः—

आज कल माला की तो अतीव दुर्गति है। माला रखने वालों को यह पता ही नहीं कि जप-क्रिया के लिए माला अत्युत्तम साधन है, अतः इसे हर तरह से स्वच्छ, शुद्ध एवं सुरक्षित रखना चाहिए। कुछ लोग माला को गले में डाल लेते हैं। कुछ लोग हाथ में कंकण के रूप मे पहन लेते हैं। कुछ लोग खूंटी पर लटका देते हैं—जहां उस पर धूल जमती रहती है। ये सब चेष्टाए, साधक की अयोग्यता की सूचना देती हैं। बहुत से सज्जन

एक बार माला लेने के बाद फिर कभी भी उस के साफ करने का नाम नहीं लेते। माला पर मल जम जाता है, दुर्गन्ध आने लगती है, परन्तु आलस्य-मूर्ति साधक उसे ही रगड़ते रहते हैं। अतः साधक का परम कर्तव्य है कि वह माला की अपने प्राणों से भी बढ कर सार संभाल करे, किसी डब्बे या वस्त्रादि में लपेट कर पूर्णतया सुरक्षित रक्खे, किसी भी दशा मे मलिन अथवा अस्वच्छ न होने दे।

वचन शुद्धिः—

मंत्र साधना में वचन-शुद्धि का भी बहुत महत्व-पूर्ण स्थान है। शुद्धिहीन वचन के द्वारा किया जाने वाला जप चमत्कारी नहीं होता। प्राचीन आचार्यों ने अन्य शुद्धियों के साथ साथ वचन शुद्धि पर विशेष बल दिया है।

वचन शुद्धि के लिए यह आवश्यक है कि साधक झूठ न बोले, कलह न करे, निन्दा न करे, और आत्म प्रशंसा आदि भी न करे। सत्य, हित तथा मित भाषण करना ही साधक के लिए 'परमो धर्मः' है। साधक के वचन में सरसता का सरलता का,

स्पष्टता का होना वचन शुद्धि का द्योतक है।

वचन-शुद्धि में मन्त्र-शुद्धि का भी समावेश हो जाता है। यहां नवकार मंत्र का वर्णन है, अतः नवकार की शुद्धि पर ही लक्ष्य देना है। सर्व प्रथम यह ध्यान में रहे कि आपका नवकार मंत्र पूर्णतया शुद्ध हो। यदि नवकार शुद्ध नहीं है, उस में अस्त व्यस्तता है, तो आप को कोई विशेष लाभ न होगा। भला जिस का मंत्र ही शुद्ध नहीं वह क्या जप-साधना करेगा? आज कल की जनता मे इस दिशा में बड़ी उदासीनता है। बूढ़े बूढ़े व्यक्तियों का भी, जो बीसियों वर्ष से नवकार की माला घिसते आए हैं, जब हम नवकार शुद्ध नहीं पाते हैं तो बड़ा खेद होता है। एक वार परीक्षा ली गई, महान् दुःख का विषय है कि सत्ताईस सज्जनों में से मात्र तीन महानुभावों का नवकार शुद्ध था। उक्त घटना पर से अनुमान लगाया जा सकता है कि हम अपने परमोत्कृष्ट मंत्र की शुद्धि से कितने पिछड़ गए हैं।

मंत्र-शुद्धि के सम्बन्ध मे पूर्वाचार्यों ने आठ दोष बतलाए हैं। साधक को इन दोषों से बचने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए :—

(१) व्याविद्ध— पाठ कुछ और हो, और

बोलने कुछ और ही लग जाना 'व्याविद्ध' दोष होता है। जैसे कि बहुत से सज्जन 'नमो अरिहंताणं' के स्थान में ' नमू हरिहंतानंग ' आदि बोलते देखे गए हैं।

(२) व्यत्याम्रेड़ित—एक पद के अक्षर को दूसरे पद के साथ जोड़ लेना व्यत्याम्रेड़ित दोष है। जैसे कि ' नमोअरि हंताणं ' आदि। ऐसा करने से मंत्र का मूल अर्थ ही भ्रष्ट हो जाता है।

(३) हीनाक्षर—मंत्र में से किसी वर्ण को बिल्कुल ही उड़ा देना, हीनाक्षर दोष है। जैसे कि ' उवज्झायाणं ' के स्थान मे 'उज्झायाणं ' कहना।

(४) अत्यक्षर—मंत्र में किसी अन्य अक्षर को जोड़ लेना, अत्यक्षर दोष होता है। जैसे 'उवज्झायाणं के स्थान में बहुत से 'उवज्झारियाणं' बढ़ा कर बोलते है।

(५) पदहीन—जप करते समय शीघ्रतावश अथवा असावधानी से बीच में कोई पद ही छोड़ देना, पदहीन दोष होता है।

(६) विनय-हीन — विनय का अर्थ आदर

एवं भक्ति होता है । अतः जो भक्तिहीन हो कर जप करते हैं, उन को विनयहीनता का दोष लगता है ।

(७) स्वर-हीन—स्वर तीन प्रकार के होते हैं—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित । उदात्त – ऊंचे स्वर से बोलना । अनुदात्त – नीचे स्वर से बोलना । स्वरित—मध्यम स्वर से बोलना । अस्तु, स्वरहीन दोष वह है, जो उदात्त आदि स्वरों की शुद्धि के बिना यों ही लापरवाही से बोला जाता है । दीर्घवर्ण के स्थान में ह्रस्वर्ण और ह्रस्वर्ण के स्थान में दीर्घ-वर्ण का बोलना भी स्वरहीन दोष है ।

(८) योग-हीन—योग का अर्थ सन्धि होता है । अतः जो मनुष्य अक्षरों मे आवश्यक सन्धि को तो तोड़ देता है और अनावश्यक सन्धि को जोड़ लेता है, वह योगहीन दोष के पाप का भागी होता है ।

ऊपर जो आठ दोषों का वर्णन किया है, वह मात्र सूचना के लिए है । इन के अतिरिक्त भी दोष हैं, पाठकों का कर्तव्य है कि वे इस सम्बन्ध मे सत्सा-हित्य के पढ़ने का कष्ट उठाएं । प्रस्तुत नन्ही सी पुस्तिका मे क्या कुछ बताया जा सकता है ?

हो जाते हैं ।

अन्न का सब से बड़ा दोष न्यायोपार्जित न होना है । जो पैसा चोरी से, बेईमानी से, छल से, दूसरों के हक़ को मार कर पैदा किया हुआ हो उस के द्वारा प्राप्त अन्न मूल मे ही अशुद्ध मनोवृत्ति रहने के कारण सर्वथा दूषित रहता है, उस के द्वारा शुद्ध चित्त का होना प्रायः असम्भव है ।

प्राय. साधू अथवा ब्रह्मचारी आदि त्यागी वर्ग को ही भिक्षा मांगने का अधिकार है। क्योंकि उन्हों ने संसार की सब झंझटों से मुक्ति पाकर अपने आप को स्वपर-कल्याण के मार्ग मे लगा दिया है, अत भोजन वस्त्र आदि का उत्तरदायित्व भी उन्हों ने अपने ऊपर न रख कर समाज पर डाल दिया है। परन्तु जो गृहस्थ हैं, परिश्रम कर सकते हैं, स्वयं कमा कर भोजन की समस्या हल कर सकते हैं, यदि वे भी दूसरों के अन्न पर ही जीते रहें—स्वयं श्रम न करें, तो यह ठीक नहीं । जो लोग बिना श्रम किए दूसरों के यहां भोजन करते हैं, उन में तमोगुण की वृद्धि होती है, वे अधिकांश आलस्य और प्रमाद में पड़े रहते हैं । उन की चित्तवृत्ति का भी स्फूर्तिमय होना असम्भव है ।

अपनी कमाई के अन्न से भी, जिस से दूसरों का चित्त दुखता हो, चित्त की शुद्धि सम्भव नहीं। जिस गौ का बछड़ा अलग छूट पटा रहा हो, पेट भर भोजन न मिलने के कारण जिस गौ के आंखों से आँसू गिर रहे हों, उस का न्यायोपार्जित दूध भी चित्त को प्रसन्न कर सकेगा—इस मे सन्देह है। इसी प्रकार भोजन के लिए नौकरों को झिड़कते रहना, घर की स्त्रियों को धमकाते रहना भी अनुचित है। जो भोजन सब के प्रेम एवं स्नेह के वातावरण मे तैयार होता है, वही हृदय मे प्रसन्नता की लहर दौड़ाता है।

भोजन मे तीन प्रकार के दोष और भी माने गए हैं—जाति दोष, आश्रय दोष और निमित्त दोष। जाति दोष वह है, जो स्वभाव से ही कई पदार्थों मे रहता है। इस के उदाहरण मे मांस, मदिरा, लहसुन आदि को रख सकते हैं। जाति दोष न होने पर भी स्थान के कारण बहुत सी वस्तुएं अपवित्र हो जाती हैं। शुद्ध दूध भी यदि शराब खाने में रख दिया जाय तो वह अपवित्र हो जाता है। यही आश्रय दोष है। शुद्ध स्थान मे रखी हुई शुद्ध वस्तु

भी वाल, कीड़ा मक्खी आदि गंदे पदार्थों के सम्बन्ध से दूषित हो जाती है। यह निमित्त दोष है। उक्त तीनों दोष भी भोजन में न रहें, यह ध्यान रहे।

भोजन बनाते समय बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। ध्यान रहे कि अन्न गला सड़ा न हो, कीड़ों से युक्त भी न हो, घृत आदि भी अशुद्ध न हों। लकड़ी आदि भी घुन वाली, जालों वाली न हों। इधर उधर कीड़े मकोड़े जैसे सूक्ष्म जीवों की भी हत्या न हो। असावधानी से जीव-हिंसा युक्त भोजन अपवित्र ही होता है।

भोजन करते समय आस पास अतिथि, गुरुदेव, मुनि या भिखारी आदि को अवश्य देख लेना चाहिए। यथाशक्य दूसरे उपस्थित जनों को देकर ही भोजन करना उपयुक्त माना गया है। यह न हो कि अपने ही पेट का ध्यान रहे, अतिथि-सत्कार बिल्कुल भुला ही दिया जाय।

अधिक आहार भी साधना में बाधक होता है। जो मनुष्य, मात्र जिह्वा के स्वाद के लिए ही पेट को ठूंसता रहता है, वह उदर भारी होने के कारण स्वभावतः आलसी होगा। जब पेट में भोजन का आधिक्य हो जाता है तो मस्तिष्क तथा मन अशान्त

एवं विचारहीन हो जाते हैं। अधिक भरा हुआ पेट मस्तिष्क को खाली कर देता है। भोजन का ध्येय स्वाद नहीं, बल्कि शरीर-रक्षा है। अत जो साधक रसना को संयत नहीं रख सकता, उस से दूसरी इन्द्रियों के संयम की आशा कहां हो सकती है?

भोजन के सम्बन्ध में काल-शुद्धि की ओर भी लक्ष्य रखना चाहिए। उचित काल पर किया हुआ भोजन ही उचित परिणाम ला सकता है, अन्यथा नहीं। बहुत से सज्जन दिन का उचित समय यों ही गप्पाष्टकों में बिता देते हैं, उस समय भोजन करने का संकल्प नहीं रखते। और जब रात हो जाती है अन्धकार छा जाता है, सूक्ष्माति सूक्ष्म जीवों का भोजन पर संपात होने लगता है, तब भोजन करने बैठते हैं। यह नहीं विचारते कि रात्रि-भोजन तो राक्षसों का भोजन है। मनुष्य-देह-धारी को तो रात्रि-भोजन से सर्वथा दूर ही रहना चाहिए। दिन में भी स्वच्छ, शुद्ध, प्रकाशमय, एकान्त स्थान का ही उपयोग करना ठीक है। शान्त वातावरण में किया हुआ भोजन चित्त पर प्रसन्नता के भाव प्रस्फुटित करता है।

सम्भव है, कितने ही पुराण-पंथी सज्जन इस भोजन-शुद्धि के प्रकरण पर नाक भौंह चढ़ाएं, और कहें कि 'नवकार मंत्र के विचार में इस का क्या सम्बन्ध ?' उन्हें विचार करना चाहिए कि भला जो मंत्र पूर्ण त्यागी वीतरागी तीर्थंकर देवों का कथन किया हुआ है, उस की साधना करने वाले को भी कितना त्यागी विरागी होना चाहिए ? अन्य त्यागों की वात सर्व साधारण गृहस्थ वर्ग नहीं निभा सकता, परन्तु भोजन के सम्बन्ध मे तो उसे त्याग-वृत्ति का भाव रखना ही चाहिए । मंत्र-साधना मे चित्त-शुद्धि आवश्यक है और चित्त-शुद्धि के लिए भोजन-शुद्धि आवश्यक है । अतएव प्रत्येक साधक को उक्त प्रकरण पर अधिक से अधिक लक्ष्य रखना आवश्यक है ।

---.0.---

—: ११ :—

आसन

साधक के जीवन मे आसन का स्थान अतीव गंभीर एवं महत्व पूर्ण माना जाता है। मंत्र आदि की किसी भी प्रकार की उच्च साधना में आप क्यों न लगे हों, जब तक आसन-द्वारा शरीर को साधना के योग्य न बना लेंगे एवं जब तक आसन में सिद्धि-लाभ नहीं होगा, तब तक आप वस्तुतः उच्च साधना के अधिकारी ही नहीं हैं। क्योंकि जब तक साधक एक स्थिर आसन से दीर्घ समय तक नहीं बैठ सकेगा, तब तक न तो उस का मन ही स्थिर होगा और न उस से कोई साधना ही बनेगी। प्रथम शरीर पर, पश्चात् मन पर भी विजय पाने का आसन एक सर्व श्रेष्ठ साधन है।

योग-शास्त्र में चौरासी प्रकार के आसन लिखे हैं। सभी आसन उत्कृष्ट हैं, एवं अपना अलग अलग महत्व रखते हैं। परन्तु साधक वर्ग में कुछ आसन ही अधिक प्रसिद्ध हैं। उन थोड़े से आसनों का अभ्यासी भी सफल साधनाकार हो सकता है, ध्यान तथा जप का वास्तविक आनंद उठा सकता है।

सिद्धासनः—

वायें पैर के मूल देश से योनि-स्थान को दबा कर और एक पैर को जननेन्द्रिय पर रख कर ठुड्डी को हृदय मे जमाले , और देह को सीधा रख कर दोनों भौंहों के वीच मे दृष्टि स्थापन करके निश्चल भाव से वैठे ।' इसे सिद्धासन कहते हैं।

वद्ध पद्मासनः—

'वायीं जांघ पर दाहिना पैर एवं दाहिनी जांघ पर वायां पैर रख कर दोनों हाथों को पीठ की ओर घुमा कर वायें हाथ से वायें पैर का अंगूठा एवं दाहिने हाथ से दाहिने पैर का अंगूठा पकड़ लेना चाहिए और ठुड्डी को छाती में टिका कर दृष्टि को नाक की नोक पर जमा देना चाहिए।' इसी का नाम वद्ध पद्मासन है।

मुक्त पद्मासनः—

उपर्युक्त नियम से वैठने को वद्ध पद्मासन कहते हैं, एवं हाथों से पैरों के अंगूठों को न पकड़ कर दोनों हाथों को दोनों जंघाओं पर चित रखना, अथवा दोनों हाथों को नाभि कमल के पास ध्यान मुद्रा में रखना, मुक्त पद्मासन कहलाता है।

पर्यङ्कासनः—

दाहिना पैर बायीं जंघा के नीचे और बायाँ पैर दाहिनी जंघा के नीचे दबा कर बैठना, पर्यङ्कासन है। पर्यङ्कासन का दूसरा नाम सुखासन भी है। सर्वसाधारण इसे पालखी मार कर या चौंकड़ी मार कर बैठना भी कहते हैं।

कायोत्सर्गासनः—

खड़े हो कर दोनों भुजाओं को घुटनों की ओर लटका कर बिल्कुल सीधा रखना, दोनों पैरों के पंजों के मध्य में न कम और न अधिक मात्र चार अंगुल का अन्तर रखना, दोनों एडियों के मध्य में चार अंगुल से कुछ कम अन्तर रखना, कायोत्सर्गासन कहलाता है। इसे जिनमुद्रा भी कहते हैं।

आसन करते समय एक बात पर ध्यान रखने की विशेष आवश्यकता है। वह यह है कि—आसन से बैठे तो मेरुदण्ड (रीढ़ की हड्डी) को ठीक सीधा रख कर बैठे। आसन किया, परन्तु मेरुदण्ड को सीधा न रक्खा तो सारा परिश्रम मिट्टी में मिल

जायगा—कोई लाभ न होगा। आसन लगाकर बैठे, तब आगे की ओर झुक कर या इधर उधर मुड कर, शरीर को शिथिल बना कर नही बैठना चाहिए। शरीर को सर्वथा दण्डायमान टटार रखना चाहिए।

इस बात को सदा स्मरण रखना चाहिए कि आसन के समय शरीर ज़रा भी न हिलेडुले, न दुखे, न श्वास की गति मे बाधा पड़े और न चित्त मे किसी प्रकार का उद्वेग ही पैदा हो। निराकुल दशा मे आनन्द से बैठने को ही आसन कहते हैं। ऐसे ही आसन के अभ्यास से सब प्रकार के द्वन्द्व छूट जाते हैं। अर्थात् सरदी-गरमी, भूख-प्यास, राग-द्वेष आदि किसी भी प्रकार के द्वन्द्व मंत्र-साधना मे या दूसरी किसी प्रकार की साधना मे बाधा नहीं डाल सकते।

आजकल के लोग आसन के पक्के नहीं रहे हैं। वे थोड़ी सी देर भी एक आसन से जम कर नहीं बैठ सकते। दो घड़ी जैसे स्वल्प काल मे भी सामायक करने वाले सज्जन कभी कैसे बैठते हैं तो कभी कैसे ? बार बार पालखी बदलते हैं, टांगें फैलाते हैं, अंगड़ाइया लेते हैं। भला जिनका आसन

ही स्थिर नहीं, वे किस बिरते पर साधना में सफलता की आशा रख सकते हैं ? आध्यात्मिक साधना की बात तो दूर रखिए, चंचलासन मनुष्य तो संसार के क्षेत्र में भी कोई सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। दृढ़ता के साथ जम कर बैठना, या खड़ा होना, प्रत्येक कार्य-सिद्धि का मूलमंत्र है।

आसनों का काम कुछ साधारण नहीं है। पहली पहली बार बड़ी कठिनता का सामना करना होता है। ज्यों ही शरीर दुखने लगता है, मन उचट जाता है, त्यों ही फिर और अधिक बैठना त्रासदायक मालूम होने लगता है। परन्तु ज़रा धैर्य रक्खा जाय, नित्य नियमित रूप से अभ्यास बढ़ाया जाय, तो कोई कठिनाई न होगी—सहज ही आसन-सिद्धि में सफलता प्राप्त हो जायगी।

आसन लगा कर बैठने से जब शरीर में दर्द या किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव न हो कर एक प्रकार के आनन्द का उदय हो, शरीर के प्रत्येक भाग में एक प्रकार का हलकापन सा मालूम हो, तभी समझना चाहिए कि आसन का अभ्यास पूर्ण हो रहा है, आसन में सिद्धि प्राप्त हो रही है।

——:——

—: १२ :—

ध्यान

आज कल बहुत से सज्जन नास्तिकता की ओर अग्रसर हो रहे हैं। वे किसी भी साधना मे विश्वास नहीं करते। उन का कहना है कि ये सब कुछ जप, ध्यान आदि की साधनाएं कल्पना प्रसूत हैं, इन में कुछ भी सत्यता नहीं। प्राचीन काल के जो सैंकड़ों उदाहरण साधना की सत्यता के लिए शास्त्रों में लिपि-बद्ध हैं, वे मात्र भ्रान्त जनता को और अधिक भ्रान्ति में डालने के लिए घड़े गए हैं। यदि वास्तव में कुछ हुआ होता तो आज क्यों नहीं कुछ होता? मंत्र आज भी पढ़े जाते हैं, जप आज भी किये जाते हैं, साधना आज भी होती है। वह क्या चीज़ है, जो आज नहीं होती? सब कुछ किया कराया जाता है, पर, निष्फल। आखिर कुछ हो भी?

मैं दृढ़ता के साथ उपर्युक्त विचारों वाले सज्जनों की सेवा में कह सकता हूं कि महाशय! आज सब कुछ हो भी रहा है और नहीं भी हो रहा। साधना में पूर्ण-सत्यता रही हुई है, प्राचीन कथानक सोलहों

आने सत्य हैं, कमी है आज साधकों की। यदि साधक ठीक हों, शास्त्रोक्त विधि के अनुसार चलने वाले हों, तो आज भी आध्यात्मिक चमत्कारों की झड़ी लग सकती है।

आज के लोगों में ऊपर का क्रिया-काण्ड खूब जोर पकड़ रहा है, चारों ओर साधकों के झुंड के झुंड दौड़ रहे हैं। परन्तु अन्दर की ओर झांकने वाले, अन्तरंग में दृढ़ श्रद्धा एवं धैर्य का बल रखने वाले विरले ही सज्जन मिलते हैं। जो मनुष्य श्रद्धा-हीन हो, वासनाओं का गुलाम हो, संसार की मोह-माया में फंसा हुआ हो, बात-बात मे क्रोध, मान, माया, लोभ के झंझावात में उड़ने लग जाता हो, वह साधना के क्षेत्र मे क्या कमाल दिखला सकता है? साधना के लिए सब से पहली और सब से आखिरी शर्त यही है कि मन को स्थिर किया जाय, मन को पवित्र किया जाय। जब तक मन की चंचलता दूर नहीं होती है, मन शान्त एवं निष्कम्प नहीं होता है, मन में पवित्र विचारों की गंगा नहीं बहती है, तब तक साधना में कोई भी उज्वल चमत्कार नहीं पैदा हो सकता। एक साधारण राजा को भी अपने घर पर आमंत्रित किया जाता है, तो घर को

कितना सुन्दर, स्वच्छ एवं शुद्ध बनाया जाता है? दूर दूर तक पवित्रता एवं स्वच्छता का कितना ध्यान रक्खा जाता है? कहीं भी मलिनता नहीं रहने दी जाती। और भला जब साधक हृदय-मन्दिर में अपने विश्व वन्द्य इष्टदेव का संस्मरण करना चाहे, तो वह मलिन बना रहे, वासनाओं की गंदगी से सड़ता रहे इधर उधर के पदार्थों के मोह में हिलता झुलता रहे, यह कैसे हो सकता है? प्रभु-स्मरण के लिए तो सब से पहले हृदय-मन्दिर को साफ़ करना ही होगा।

ऊपर के विवेचन पर से यह निर्णय हो गया है कि साधना के क्षेत्र मे मन की पवित्रता का होना, सर्व-प्रथम आवश्यक बात है। परन्तु प्रश्न है कि मन पवित्र हो कैसे? मन को वश में करना तो पवन-हवा को वश में करना है, जो कभी हो नहीं सकता। भला कभी समुद्र की तरंगें भी वश में हुई हैं? यह प्रश्न, वह प्रश्न है, जो आज सब के मुख पर चढ़ा हुआ है। बहुत से सज्जन तो मनोविजय की यात्रा मे सर्वथा थक कर निराश हो कर बैठ ही गए हैं।

परन्तु जहाँ तक साधना का सम्बन्ध है, निराश होने जैसी कोई बात नहीं है। मनुष्य की महान् शक्ति के आगे असम्भव जैसी कोई चीज़ ही नहीं है। मन तो हमारा गुलाम ही है, क्या वह हमारे वश मे न होगा? होगा, अवश्य होगा, ज़रा दृढ़ता के साथ कार्य करने की आवश्यकता है। जब कि संसारी कामों मे मन आप का साथ देता है, तब वह साधना में आप का साथ न देगा, यह कैसे माना जा सकता है। रुपये परखते समय, नोट संभालते समय, स्वर्ण-आभूषण घडाते समय, ग्राहक पटाते समय, वही-खाता करते समय, आप का मन वश में रहता है या नहीं? अवश्य रहता है, तो फिर वह साधना मे क्यों नहीं रहता? अवश्य रहता है, ज़रा अपना अभ्यास पूरा कीजिए।

अभ्यास बहुत बड़ी करामात है। असाध्य से असाध्य कार्य भी अभ्यास-द्वारा सहज ही मे सिद्ध हो जाते हैं। मन तो बेचारा क्या है, अभ्यास तो बड़े बड़े चमत्कार पैदा कर सकता है, विश्व-विजय तक कर सकता है। अभ्यास के द्वारा प्राणिमात्र के स्वभाव मे इतना परिवर्तन होता है कि वह एक नये

प्रकार का प्राणी बन जाता है। जो शेर अनेक वर्षों तक पिंजड़े मे रह आता है, वह पिजड़े का दरवाजा खुलने पर भी पिंजड़े से नहीं भागता। यदि उसे बाहर निकाल भी दिया जाता है, तो भी वह फिर पिंजड़े में ही घुसता है। जिन कैदियों का जन्म प्रायः कैद मे ही बीतता है वे जब कैद से मुक्त होते हैं, तब भी कैद में ही जाने को तरसते हैं। अभ्यास के कारण ही मील मील गहरी खानों मे काम करने वाले आदमी उन खानों मे आनन्द से जीवन बिता ले जाते हैं, और अभ्यास के कारण ही ज्वाला मुखी पर्वतों पर रहने वाले लोग तथा सदा वायुयान मे उड़ने वाले वायुयानचालक निर्भयता के साथ अपना जीवन व्यतीत करते है। हमारा मन अभ्यास के द्वारा इस प्रकार से नियंत्रित किया जा सकता है कि हम जिधर उसे चाहें ले जा सकते हैं, जिस परिस्थिति मे रखना चाहें रख सकते हैं।

पाठकों मे से किसी ने बाइसिकिल चलाई है? आप जानते हैं, जब चलाना सीखा था तो बेलेन्स करने में कितनी कठिनता पड़ती थी? मन का समग्र ध्यान उस पर लगा दिया जाता था। ज़रा भी ध्यान

से इधर उधर भटके कि झट गिरते ही दिखते थे। न मालूम कितनी बार चढ़े और कितनी बार गिरे? सब कुछ हुआ, परन्तु आप ने अभ्यास न छोड़ा। ज्यों ही अभ्यास बढ़ा, बैलेन्स स्वाभाविक हो गया। अब आप इधर उधर देखते भी जाते हैं, बातें भी करते हैं, गाते और खेलते भी जाते हैं, पर बैलेन्स ठीक रहता है, गिरने नहीं पाते। साधना भी बाइसिकल की सवारी है। पहले पहले मन उछल कूद करेगा, इधर उधर भटकेगा, परन्तु अभ्यास न छोड़िए—थोड़ा बहुत प्रयत्न करते ही रहिए। एक दिन मन का बैलेन्स ठीक हो जायगा, और फिर आनन्द ही आनन्द। हमारा मन एक बार हमारे पूर्ण नियंत्रण में आ जाना चाहिए, फिर तो हम सभी अवस्थाओं में आनन्द का उपभोग कर सकते हैं, विश्व के प्रत्येक चमत्कार का साक्षात्कार कर सकते हैं, हर किसी साधना मे पूर्ण सफलता प्राप्त कर सकते हैं।

मन का नियंत्रण दो प्रकार से किया जा सकता है। एक तो उस की गति का मार्ग परिवर्तन करने से और दूसरे उसे गतिहीन कर देने से। वैदिक

योग दर्शन मे मन को गतिहीन बनाने का विधान है, परन्तु जैनाचार्य ऐसा नहीं मानते, उन का विश्वास मार्ग परिवर्तन पर ही है। उन का कहना है कि मन जब तक मन-रूप में है, गतिशील ही रहेगा। आज कल के मनोविज्ञान के अनुसार भी मन को गतिहीन करना सम्भव नहीं है, वह कुछ न कुछ करता ही रहता है। अस्तु, मन को वश मे रखने का यही एक उपाय है कि उस को दुर्ध्यान से हटा कर सद् ध्यान की ओर लगा दिया जाय। ध्यान की महिमा अपरंपार है। त्रिलोकी में ऐसा कोई भी कार्य नहीं, जो ध्यान के द्वारा साध्य न हो!

ध्यान का सामान्य अर्थ 'विचार' है। चित्त के द्वारा किसी विशेष शुद्ध रूप के चिन्तन करने को ध्यान कहते हैं। योग शास्त्र मे ध्यान के सम्बन्ध में बड़ी गंभीर विवेचना की हुई है। अधिक जिज्ञासा वाले सज्जन वहां देखने का कष्ट उठाएं। यह एक साधारण लघुकाय पुस्तिका है, अतः इस में तो मात्र साधारण रूप से परिचय ही दिया जा रहा है।

ध्यान में-चिंतन में मुख्य तीन वस्तुएं होती हैं.—ध्याता, ध्येय और ध्यान। ध्यान करने वाला

ध्याता होता है। ध्यान के लिए जिस का अवलम्बन किया जाता है, वह ध्येय होता है। और जो कुछ भी चिन्तन होता है, वह ध्यान कहलाता है। ध्याता और ध्यान का मुख्य आधार ध्येय ही होता है, अतः ध्येय का विचार किया जाता है। ध्येय के चार प्रकार हैं:— पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत।

पिण्डस्थ:—

सर्व प्रथम पिण्डस्थ ध्येय है। धर्मसूत्रों में इस का विशेष महत्व गाया गया है। शान्त, कान्त एवं एकान्त स्थान में सिद्धासन आदि किसी श्रेष्ठ आसन से बैठ कर पिण्डस्थ ध्यान ध्याया जाता है। पिण्ड यानी शरीर मे विराजमान आत्मा रूप ध्येय का ध्यान, पिण्डस्थ ध्यान होता है। धारणा के भेद से इस के पांच प्रकार हैं:—

(१) पार्थिवी धारणा के अनुसार सर्वप्रथम समस्त भूमण्डल को क्षीर समुद्र के रूप में चिन्तन करे। पश्चात् क्रमशः जम्बूद्वीप के समान एक लाख योजन का व्यास वाला एक हज़ार पँखुडी का स्वर्ण

कमल, सुमेरु पर्वत के समान पीतवर्ण की ऊंची विशाल कर्णिका, उस पर स्फटिक मणि के समान श्वेतसिंहासन, और उस पर महान योगी के रूप में साधक अपने आप को बैठा हुआ विचारे। यह दृश्य बड़ा ही सुरम्य एवं सौम्य मालूम देगा। बार बार पार्थिवी धारणा के अभ्यास से मनोवृत्ति शान्त एवं स्थिर हो जाती है।

(२) आग्नेयी धारणा के अनुसार आगे विचार करे कि मानों मैं पार्थिवी धारणोक्त श्वेत सिंहासन पर योगी के रूप मे बैठा हुआ हूँ। मेरे नाभि-स्थान में ऊपर को मुख किए हुए १६ पँखुडी का एक श्वेत कमल है। प्रत्येक पँखुडी पर अ, आ आदि १६ स्वर क्रमश: अंकित हैं। बीच में पीत वर्ण का 'र्हं' लिखा हुआ है। नाभि-कमल के ठीक ऊपर हृदय-स्थान में अधोमुख आकृति वाला आठ पंखुडी का विकसित कमल है। यह कमल काले रंग का, आठ कर्मों का प्रतीक है। तदनन्तर नीचे के नाभि कमल में के 'र्हं' अक्षर में से धूआ निकले, अग्नि शिखा निकले, हृदयस्थ अधोमुख कमल को जलाने लगे, जला कर अग्नि शिखा आगे बढ़े, मस्तक पर पहुंच जाए।

तत्पश्चात् शरीर के दोनों ओर रेखा रूप से नीचे आकर दोनों शिरे मिल जाएं, ऊपर से नीचे की ओर त्रिकोण की आकृति बन जाय। आग्नेयी धारणा का ध्यान बहुत उग्र होता है। यह अंदर आठ कर्मों को और बाहर स्थूल शरीर को जलाने का संकल्प है। प्रक्रिया के अन्त में विचार करना चाहिए अग्नि-शिखा शान्त हो कर जहां से उठी थी वहां वापस समा गई है। शरीर जल कर राख हो गया है। अन्दर आत्मा का तेज दमक रहा है।

(३) मारुती धारणा में विचार किया जाता है कि चारों ओर से मन्द, सुगन्ध समीर अर्थात् वायु के झोंके आ रहे हैं। आत्मा की ज्योति अन्दर से प्रकाशमान होती हुई बाहर प्रगट हो रही है। अन्त में विचार करे कि सब राख उड़ चुकी है, अन्दर से आत्मा का प्रकाश चमक उठा है।

(४) वारुणी धारणा का स्वरूप बड़ा ही शान्तिप्रद है। इस में मेघों का संकल्प किया जाता है। ऐसा मालूम होता है, आकाश में घने काले बादल छा जाते हैं, पहले धीरे धीरे और बाद में ज़ोर से वर्षा होती है, आत्मा पर से राख का अंश पूर्णतया

घुल जाता है। आत्मा शान्त, शीतल और देदिप्यमान प्रकाशयुक्त हो जाती है।

(५) तत्ववती धारणा मे विचार करना चाहिए कि आत्मा कर्ममल से सर्वथा रहित है, शरीर भी नहीं है, पूर्ण शुद्ध ज्ञान-प्रकाशमय है, सिद्ध पद के अनन्त गुण प्रगट हो चुके हैं, अजर अमर अक्षय शान्ति का लाभ मिल चुका है। अब मैं कर्मों से लिप्त न हूँगा, वासनाओं के जाल में न फंसूंगा।

यह प्रकार पिण्डस्थ का है। प्रत्येक धारणा का पूरा पूरा अभ्यास करना चाहिए। जब एक धारणा का अभ्यास पूरा हो जाय, मन शान्त एवं स्थिर हो जाय, तब क्रमश उत्तरोत्तर धारणाओं का अभ्यास करना चाहिए।

पदस्थः—

दूसरा पदस्थ ध्येय है। यह पदों के द्वारा किया जाता है, अतः इसे पदस्थ कहते हैं। इस का कोई एक प्रकार नहीं है। साधक अपनी इच्छानुसार इस का संकल्प बना सकता है। हम यहां उदाहरण के तौर पर एक विधि का उल्लेख करते हैं।

हृदय-कमल में पांच पंखुड़ी का एक कमल विचारना चाहिए। प्रत्येक पंखुडी क्रमशः श्वेत-सफेद, रक्त - लाल, पीत - पीली, हरित - हरी और कृष्ण - काली विचारनी चाहिए। जब पंखुडियों के रंगों का ठीक ठीक अभ्यास हो जाय, तब श्वेत पर 'नमो अरिहंताण' लाल पर 'नमो सिद्धाणं' पीली पर 'नमो आयरियाणं हरी पर 'नमो उवज्झायाणं' और काली पर 'नमो लोए सव्वसाहूणं' का संकल्प करना चाहिए। पदस्थ के इस सुन्दर प्रकार का बार बार अभ्यास करने से मन की चंचलता का आवेग मन्द पड़ जाता है।

रूपस्थः—

रूपस्थ की प्रक्रिया में महापुरुष तीर्थंकरो के भिन्न भिन्न संकल्प चित्र विचारे जाते हैं। महापुरुषों के संकल्प से आत्मा में दृढ़ साहस, पौरुष एवं आध्यात्मिक शक्ति का संचार होता है। संकल्प का चित्र इस भांति खींचना चाहिए।

"सुन्दर समवसरण लगा हुआ है। आकाश मे देवता दुन्दुभि बजा रहे हैं। गन्धोदक की वर्षा हो रही है। सभा में देव, देवी, मनुष्य, पशु आदि सभी

शान्त तथा निश्चल भाव से बैठे हुए हैं। सिंह भी हैं, पास ही मृग है, पर ज़रा भी वैर भाव नहीं। चारों ओर शान्ति ही शान्ति है। बीच मे साक्षात् तीर्थंकर देव स्फटिक सिंहासन पर विराजमान हैं, धर्मोपदेश हो रहा है, ज्ञान की गंगा बह रही है। सामने ही मैं (साधक) बैठा हूँ, उपदेश सुन रहा हूं, पाप धो रहा हूँ।"

उपर्युक्त पद्धति से ही भगवान की दीक्षा का प्रसंग, वनों में ध्यान लगाने का दृश्य, केवलोत्पत्ति का समय—इत्यादि रूपक भी यथा समय विचारते रहने चाहिएं। कभी कभी अपने आप को भी तीर्थंकर के रूप मे चित्रित करना चाहिए। महान संकल्प मनुष्य को महान बना देते हैं, इस में अणु-मात्र भी असत्य नहीं है।

रूपातीतः—

रूपातीत का अर्थ होता है— रूप से अतीत, अर्थात् रूप रंग से सर्वथा रहित। यह अन्तिम प्रकार है। इस मे कर्ममल से सर्वथा रहित अशरीरी अजर अमर सिद्ध भगवान के रूप में अपनी आत्मा

का दृश्य विचारा जाता है। यहां पहुँच कर संकल्प करना चाहिए कि ...... मैं देह नहीं हूं, क्योंकि देह दृश्यमान होता है, मैं द्रष्टा हूं। मैं इन्द्रिय भी नहीं हूँ, क्यों कि इन्द्रियां भौतिक हैं, मैं अभौतिक हूं। मैं प्राण नहीं हूँ, क्योंकि प्राण अनेक हैं, मैं एक हूँ। मैं मन नहीं हूँ, क्योंकि मन चंचल है, मैं पूर्ण स्थिर हूं। इस प्रकार विचार करते करते अपने आप को सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, निर्विकार, आनन्दस्वरूप, ज्योतिर्मय विचारना चाहिए। यह रूपातीत ध्यान की प्रक्रिया है। इस का कोई खास शब्द-चित्र नहीं खींचा जा सकता। ध्यान करते करते अपने आप ही कभी उक्त स्वरूप का संकल्प आ सकता है।

धर्मध्यानः—

आगम साहित्य में धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान का वर्णन आता है। वह भी ध्यान के क्षेत्र में अलौकिक प्रकाश फैंकता है। शुक्ल ध्यान आज के हमारे साधारण मानवी जीवन मे अधिक सम्भव नहीं। अतः यहां शुक्ल ध्यान का वर्णन न करके मात्र धर्म ध्यान का ही वर्णन किया जाता है। धर्म ध्यान के चार प्रकार हैं :—

(१) भगवान की आज्ञा क्या है? उस का हमारे जीवन से क्या सम्बन्ध है? भगवान की किन आज्ञाओं का आराधन कर हम अपने जीवन को पवित्र बना सकते हैं? दूसरे मत-प्रवर्तकों की वाणी की अपेक्षा जिन-वाणी की क्या विशेषता है? इत्यादि विचारों का तलस्पर्शी अध्ययन करना—चिन्तन करना, 'आज्ञा विचय' धर्म ध्यान है।

(२) अपने मे क्या क्या दोष रहे हुए हैं? क्रोध, मान, माया, लोभ का वेग कितना कम हुआ है, कितना बाकी है? कर्मबन्धन क्यों होता है? इस से कैसे छुटकारा हो सकता है? दूसरे जीवों को भी पाप मार्ग से कैसे बचा सकता हूं? यह विचार-धारा 'अपाय विचय' है।

(३) जीव सुखी किस कर्म से होता है और दुःखी किस कर्म से? किस कर्म का क्या फल होता है? यह फल तीव्र या मन्द क्यों कर हो सकता है? इत्यादि गंभीर विचार 'विपाक विचय' कहलाते हैं।

(४) लोक का क्या स्वरूप है? नरक और स्वर्ग का क्या स्वरूप है? मुक्ति का क्या संस्थान है? जड़ और चैतन्य मे क्या विभेद है?

पुद्गल शुभ से अशुभ और अशुभ से शुभ कैसे बदल जाता है ? इत्यादि भाव संस्थान विचय के हैं ?

ध्यान का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। प्राचीन आचार्यों ने ध्यान के अनेक प्रकार हमारे सामने रक्खे हैं, जिन के द्वारा हम अपने चचल मन को वश में कर सकते हैं। ऊपर जो धर्म ध्यान का वर्णन किया है, वह अतीव संक्षिप्त रूप में है। पाठक इसे इतना ही न समझें। कथित पद्धति के अनुसार आप इसे जितना भी चाहें, बढ़ा सकते है।

पदस्थ ध्यान मे जो नवकार का वर्णन किया है, वह भी बहुत विस्तृत है। जिस प्रकार पाँच पद के ध्यान का वर्णन है, उसी प्रकार आप नौ पद का ध्यान भी नौ पँखुडी वाले कमल के द्वारा कर सकते हैं। नौ पद मे पाँच पद तो वे ही हैं, चार पद ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के हैं। 'अ, सि, आ, उ, सा' के मंत्र को भी इसी भांति पाँच पंखुडी के कमल से विचारा जा सकता है।

ध्यान का कार्य कुछ शीघ्रता का नहीं है। इस क्षेत्र मे आप को बहुत दीर्घ धैर्य का बल साथ ले

कर उतरना चाहिए। कितने ही सज्जन शीघ्र ही प्रारब्ध कार्य का फल देखना चाहते हैं, ज़रा सा भी विलम्ब हो जाता है तो अधीर हो जाते हैं, कृपया वे ध्यान के क्षेत्र में पधारने का कष्ट न करें। भला जो मन अनादि काल से वायु के वेग से भी अधिक गतिमान, समुद्र की तरंगों से भी अधिक चंचल रहा है, वह आप की साधारण सी ध्यान-साधना के द्वारा कैसे वश में आ सकता है? इस के लिए तो आप को दीर्घातिदीर्घ काल तक के लिए ध्यान के क्षेत्र मे डटा रहना चाहिए। ध्यान करते जावो, करते जावो, एक दिन वह आएगा ही, जिस दिन मन शान्त, तथा स्थिर हो जायगा—आप के अभीष्ट साधनों पर सधे बन्दर के समान चलने लग जायगा।

ध्यान करने के लिए एक विशेष समय निश्चित कर लीजिए। प्रति दिन उस समय सब काम छोड़ कर ध्यान करने बैठ जाइए, कितने भी आवश्यक कार्य हों, एक दिन को भी लाँघा न करिए। एक दिन का भी अन्तर साधना की निरन्तरता को खंडित कर देता है।

ध्यान के लिए प्रातः काल का समय उपयुक्त है। बड़ा सुहावना समय होता है, प्रकृति शान्त होती है, संसार की कोई भी खट पट उस समय नहीं होती। प्रातः काल के समय भी आप को निराहार मुख ही ध्यान करना चाहिए। पेट से पहले अपनी आत्मा से बात करो। पेट में भोजन न रहने पर मन और मस्तिष्क अधिक शान्त होते हैं।

———.0 ———

—: १३ :—

जप

साधना के क्षेत्र मे ध्यान का महत्व बहुत ऊँचा है। शास्त्रकार कहते हैं कि जब तक ध्यान में दृढता न उत्पन्न होगी, तब तक कुछ नहीं हो सकता। आध्यात्मिक आनन्द का पूरा पूरा लाभ ध्यान में ही उठाया जाता हैं। परन्तु 'ध्यान' की साधना साधारण नहीं कि हर कोई साधक इस पर अधिकार जमा ले। अतः ध्यान की उच्चतम साधना के पूर्व मन, वाणी, और इन्द्रियों को एकाग्र करके इष्ट देव के ध्यान में लगाने के लिए जप की आवश्यकता पड़ती है। जप के नाद से सांसारिक वस्तुओं तथा विचारों से मन को खींच कर एक ओर लगाने के लिए प्रेम भक्ति के साथ सद्भावना-पूर्वक इष्ट मंत्र या नाम का जप अनिवार्य है। ध्वनि के माधुर्य से खिंच कर मन, इन्द्रियों सहित, एक ओर लग जाता है। धीरे धीरे इष्ट पर ध्यान एकाग्र होने लगता है और अन्त मे बाह्य विघ्न बाधाओं, आकर्षणों, प्रलोभनों के जाल को तोड़ कर मन, इष्ट मे रम जाता है।

मनोविज्ञान के धुरंधर विद्वानों ने अनेक प्रकार के प्रयोगों, परीक्षणों तथा परिशोधों के अनन्तर यह सिद्ध कर दिखाया है कि मनुष्य के मस्तिष्क मे वार बार जिन विचारों का उदय होता रहता है, वे विचार वहीं नक्श हो जाते हैं। उसी प्रकार के भाव मस्तिष्क मे घर वना लेते हैं। फल यह होता है कि वे ही या उसी प्रकार के विचार मस्तिष्क में वार वार चक्कर लगाया करते हैं। उन से मन का इतना लगाव हो जाता है कि वह उन्हीं में आनन्द प्राप्त करता है, सदा मगन रहता है। दूसरे विचारों की ओर वह झांक कर भी नहीं देखता। यदि कभी वलात् दूसरे विचारों की ओर उसे लगा भी दें, तो भी वह उन से जल्दी ही ऊब उठता है, भागने लगता है, और आखि़र अपने पुराने विचारों के वीच में पहुँच कर ही शरण लेता है।

अधिक क्या, मनुष्य के आचरणों का मूल आधार उस के विचारों, संकल्पों, भावों मे ही रहता है। जो मनुष्य जैसे विचार रखता है, वह उसी उसी प्रकार का हो जाता है। 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी' का सिद्धान्त वह

अकाट्य सिद्धान्त है, जो कभी कट नहीं सकता। मनुष्य और कुछ नही, वह अपने विचारों का व्यक्त या साकार रूप मात्र है।

विचारों के एकीकरण तथा पवित्रीकरण का सर्वश्रेष्ठ साथ ही सरल साधन जप है। जप के द्वारा मनुष्य के विचार जितने संयत तथा स्थिर हो सकते हैं, उतने दूसरे साधनों द्वारा नहीं। जप मे मंत्र तथा इष्ट देव के नाम को एक विशेष विधि से वार वार दोहराना पड़ता है। जिह्वा से बराबर शब्द उच्चरित होते रहते हैं, कान बराबर उन शब्दों को सुनते रहते हैं। और इस प्रकार मन तथा मस्तिष्क पर मंत्रीय शब्दों का निरंतर प्रभाव पड़ता है। मस्तिष्क के कोषों में उन का असर पड़ता है, चिह्न बनता, संस्कार जमता और स्थायी प्रभाव अंकित हो जाता है।

जप के समय साधक के सामने इष्ट देव के स्वरूप तथा गुणों का चित्र जाज्वल्यमान रूप से उपस्थित हो जाता है। हृदय देवोचित भावों में वहने लगता है। पूर्वकालीन वासनामय संस्कारों में क्षीणत्व होने लगता है, वे धीरे धीरे घिसने-मिटने-

नष्ट होने लगते हैं। ज्यों ज्यों जप का वेग तीव्र होता जाता है, त्यों त्यों साधक के संस्कार अपने इष्ट देव के स्वरूप तथा गुणों के अनुसार बनने लगते हैं।

"आम शब्द के कहने से जिस प्रकार मन में उस के रूप, रंग, गुण, स्वाद का उदय हो आता है, दुर्गन्ध युक्त गंदी वस्तुओं के नाम स्मरण से मन घिनाने लगता है, ठीक उसी प्रकार इष्ट देव के नाम स्मरण से—उच्चारण से मन मे दैवी गुणों का उदय हो जाता है। मन शुद्ध हो जाता है, विकार दूर हो जाते हैं, शब्द की शक्ति कुछ साधारण नहीं है, इस में बड़े बड़े चमत्कार भरे हुए हैं। अतः जो लोग यह कहते हैं कि खाली जप में क्या रक्खा है? केवल नाम के जप लेने से भी भला कहीं आत्मा में चमत्कार पैदा हुआ है? उन्हें ऊपर के विवेचन पर लक्ष्य देना चाहिए।

जपयोग के अभ्यासी एक महानुभाव ने जप-साधना के सम्बन्ध में एक बड़ा ही मर्मस्पर्शी उदाहरण उपस्थित किया है। यदि उस उदाहरण पर ध्यान दिया जाय तो जप का महत्त्व साधक के लक्ष्य मे सहसा प्रकाशित हो सकता है। उन का

कहना है कि एक पात्र में जल भरा है। उस मे पिघला हुआ शीशा ऊंडेला जाता है। जैसे जैसे शीशे की धार पात्र की तह मे धंसती जाती है, वैसे वैसे पानी का अंश पात्र के ऊपर से वाहर वह कर निलकता जाता है। अन्त मे जब शीशे की तह पात्र के मुंह तक आती है, तव पानी का कुल भाग पात्र से वाहर निकल जाता है। पात्र मे नीचे से ऊपर तक केवल शीशा-ही-शीशा भरा नजर आने लगता है। ठीक इसी प्रकार जब साधक जप के द्वारा अपने इष्ट देव के गुणों की धार धीरे धरे, किन्तु निश्चित तथा प्रवल रूप से मस्तिष्क कोषों के पात्र में उंडेलने लगता है, तव एक एक कर के सभी गंदे विचार दूर होने लगते हैं, और अन्त मे मन तथा मस्तिष्क शुद्ध हो कर इष्ट देव के महामहिम शुभ गुणों से भर कर भासित होने लगते हैं। वहां अज्ञान-अन्धकारमय असद् विचारों को स्थान ही नहीं रह जाता। लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, मद, मात्सर्य, क्रोध आदि सभी दूषित भाव दूर हो जाते हैं। तामस, राजस भावों के स्थान में शुद्ध, सात्विक भाव अङ्कित हो जाते हैं।

जप करते समय सब से वड़ी वात है, मन को

एकाग्र करके जप और इष्ट देव के ध्यान में लगाना। शून्य चित्त से किया हुआ जप जीवन मे कुछ भी क्रान्ति नहीं ला सकता। प्राचीन काल में जप के द्वारा जहां अनेकानेक चमत्कारों के होने का उल्लेख है, वहां आज जप के नाम पर मात्र शून्य का रह जाना, आश्चर्य में डाल देने वाला है। यह बात नहीं कि आज जप मे कुछ रहा नहीं है, वह नीरस निष्फल हो चुका है। आज भी जप मे सब कुछ है। आज भी जप के द्वारा हम अनेक आध्यात्मिक चमत्कारों के दर्शन कर सकते हैं। परन्तु जप की जो शर्तें है, उन का पूरा होना आवश्यक है। जप के लिए सर्वप्रथम अटल श्रद्धा की शर्त है। जिस साधक की जितनी ही अटल श्रद्धा होगी, वह उतना ही आध्यात्मिकता के ऊँचे शिखर पर चढ़ सकेगा। जप का काल ज्यों ही लंबा होता जायगा, मन शान्त तथा स्थिर होता जायगा, त्यों ही साधक ध्यान के क्षेत्र में उतरता जायगा। और जब साधक अपने इष्ट-देव के ध्यान में इतना तन्मय हो जायगा कि उस की आत्मा इष्ट देव के स्वरूप में लीन हो जायगी, उस समय साधक समाधि की अवस्था में पहुच जायगा, और उस स्थिति में जप, ध्यान में लीन

हो जाने के कारण समाप्त हो जायगा।

नवकार महामंत्र के जप की प्राचीन आचार्यों ने बहुत महिमा गाई है। प्राचीन शास्त्रों में कितने ही ऐसे साधु तथा गृहस्थों का वर्णन आता है, जो केवल जप के द्वारा ही आत्म-साधना कर सके। इस का यह अर्थ नहीं कि वे केवल जप ही करते रहे, अन्य सदाचार की साधना से शून्य रहे। सदाचार की साधना के अनन्तर ही तो जप की साधना का नंबर आता है। सदाचार की साधना को जितना नवकार मंत्र के जप से बल मिलता है, उतना और किसी मंत्र से नहीं। नवकार मंत्र वस्तुत. है ही सदाचार का प्रतीक। तीर्थंकर, आचार्य, उपाध्याय तथा मुनियों से बढ़ कर सदाचार को जीवन में उतारने वाले और कौन हो सकते हैं? नवकार मे इन्हीं सदाचार – आराधक तथा प्रवर्तक महापुरुषों का संस्मरण है, अतः नवकार का जप करने वाला साधक सदाचारी न बने तो क्या भोग-विलासी देवी देवताओं का उपासक बनेगा। अस्तु, दृढ़ता के साथ नवकार मंत्र,का जप प्रारम्भ कर देना चाहिए, संसार की समस्त विभूतियां चरण-कमलों में आ उपस्थित होंगीं।

हमारे प्राचीन आचार्य जप के लिए सन्धिकाल का समय अतीव उपयुक्त बतलाते हैं। (१) प्रातःकाल की सन्धि, (२) मध्याह्नकाल की सन्धि, और (३) सायंकाल की सन्धि—इन तीनों समय पर मनुष्य दत्तचित हो कर जप के द्वारा जो भी शुद्ध संस्कार अन्त. स्थित करेगा, वही सदा जागृत रहेगा और उसी का प्रवाह दिन भर प्रवाहित होगा। सन्धि के समय जिस प्रकार के भाव पैदा हो जाते हैं, उस का असर प्रधान रूप से अगली सन्धि तक तो रहता ही है। विशेष कर प्रातः काल का समय तो बहुत ही औचित्य पूर्ण है। प्रात काल के समय सांसारिक व्यवहार के भाव कुछ नहीं होते, मन और मस्तिष्क ग्रहणशील अवस्था मे होते हैं, और उन मे सर्वप्रथम उंडेले गए उत्तम संस्कार दृढ़ता से अंकित हो जाते हैं। आस पास प्रकृति का वातावरण शान्त रहने के कारण हृदय में विक्षोभ भी पैदा नहीं होता, अतः जप अपनी पूरी लय के साथ अव्याहत गति से निश्चित समय तक चल सकता है।

जप करते समय एक बात और भी लक्ष्य मे रखने की है। वह यह कि जप काल में साधक को उत्साहहीन नहीं होना चाहिए। मानव प्रकृति की

यह सब से बड़ी दुर्बलता है कि वह जितना कार्यारम्भ में उत्साह रखता है, उतना आगे चल कर नहीं। ज्यों ज्यों कार्य लंबा होता जाता है, त्यों त्यों वह हतोत्साह एवं निष्क्रिय हो जाता है। जप-साधना मे भी कभी कभी अरुचि पैदा हो जाती है, जप नीरस तथा शुष्क प्रतीत होने लगता है। अधिकाधिक उत्साह के साथ जप करना ही इस रोग की औषधि है। जैसे पित्त रोग की औषधि मिश्री है। पित्त रोग दोष से विकृत जीव को आरम्भ मे मिश्री भी कडवी ही लगती है, फिर भी मिश्री ही खानी पड़ती है, पीछे ज्यों ज्यों पित्त दोष का नाश होता जाता है, त्यों त्यों क्रमशः वह मीठी लगने लगती है; वैसे ही मंत्र-जप मे अरुचि होने पर प्रयत्नपूर्वक मंत्र-जप ही करते रहने से क्रमशः मंत्र जप अच्छा लगने लगता है, जप मे अभिरुचि बढ़ने लगती है, और अन्त मे जप सर्वथा सरस-मधुर हो जाता है। इसी दृष्टि को ध्यान मे रख कर आचार्यों ने कहा है कि 'जपात् सिद्धिर्जपात्सिद्धिर्जपात्सिद्धिर्न संशयः'।

जप के मुख्यतया तीन भेद है (१) मानस, (२) उपांशु और (३) भाष्य। मानस जप वह है, जिस मे मंत्रार्थ का चिन्तन करते हुए मात्र मन से

ही मंत्र के वर्ण, स्वर, और पदों की बार बार आवृत्ति की जाती है। उपांशु जप में कुछ कुछ जीभ और होंठ चलते हैं, अपने कानों तक ही जप की ध्वनि सीमित रहती है, दूसरा कोई नही सुन सकता। भाष्य जप वाणी के द्वारा स्थूल उच्चारण है। इस में आस पास रहने वालों को भी जप की ध्वनि सुनाई पड़ती है। आचार्यों ने सब से श्रेष्ठ मानस जप को बतलाया है। उन का कहना है कि भाष्य जप से सौ गुना उपांशु और सहस्र गुना मानस जप का फल है। साधक का कर्तव्य है कि वह क्रमशः शक्ति बढाता हुआ भाष्य,उपांशु और मानस जप का अभ्यास करे।

प्रत्येक क्रिया मे कुछ बातें ऐसी होती हैं, जो बिल्कुल साधारण होते हुए भी महत्वपूर्ण होती हैं। जब तक उन का ज्ञान न होगा, क्रिया कभी भी पूर्ण नहीं हो सकती। जप के सम्बन्ध मे भी यही बात है। अतः साधकों को इस सम्बन्ध मे हम कुछ आवश्यक ज्ञातव्य बातों से परिचित करा देना चाहते है।

जप करते समय बीच में बातें नहीं करनी चाहिएं। जब तक चालू माला पूर्ण न हो जाय, मौन

ही रखना चाहिए। जप में न बहुत जल्दी करनी चाहिए, और न बहुत विलम्ब। गा कर जपना, सिर हिलाना, लिखा हुआ पढ़ना, अर्थ न जानना और बीच बीच मे भूल जाना— ये सब जप-सिद्धि के प्रतिबन्धक है। जिस के चित्त में व्याकुलता, क्षोभ तथा भ्रान्ति हो, भूख लगी हो, शरीर मे असह्य पीड़ा हो, उसे भी जप न करना चाहिए। चंचल मन मे जप की शान्ति का आविर्भाव होना कठिन है। पलंग पर बैठ कर, जूता पहने हुए, अथवा पैर फला कर जप करना भी शास्त्र में निषिद्ध है। यदि यों ही मानस जप करना हो तो उस के लिए निषेध नहीं है। जप करते समय आलस, जँभाई, नींद, छींक, थूकना, डरना, अपवित्र अंगों का स्पर्श तथा क्रोध आदि भी नहीं होने चाहिएं। उक्त दुर्गुण भी जप की पवित्रता को नष्ट कर देते हैं।

जप करते समय यदि शौच, लघु शङ्का आदि का वेग हो तो उस का निरोध नहीं करना चाहिए. क्योंकि ऐसी अवस्था में मंत्र और इष्ट का चिन्तन तो होता नहीं, मल-मूत्र का ही चिन्तन होने लगता है। ऐसे समय का जप अपवित्र होता है, और चित्त

अव्यवस्थित होने के कारण कभी कभी भयंकर अनर्थ भी उत्पन्न हो जाते हैं।

जप की महिमा अपरपार है। जप के द्वारा वह वाक् शक्ति प्राप्त होती है, जिस के द्वारा साधक विरोधी से विरोधी को भी अपना मित्र बना लेता है, असाध्य से साध्य कार्य को भी सफल बना देता है। यदि वास्तव में विधि-विधान के साथ जप किया जाय तो जीवन में किसी भी प्रकार की न्यूनता नहीं रह सकती।

———o———

—: १४ :—

अखण्ड जप

जप-साधना में अखण्ड जप का स्थान भी कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं है। जो जप बीच-बीच में त्रुटित हो जाता है, बिना किसी अन्तर के अविराम एक ही धारा से नहीं होता है, वह पूर्णतया उत्साह का वातावरण नहीं पैदा कर सकता। और जब तक साधकों के हृदयों मे उत्साह की लहर नहीं दौड़ती है, तब तक जप का वास्तविक आनन्द नहीं उठाया जा सकता। अखण्ड जप इसी ध्येय की पूर्ति के लिए है।

जो सज्जन प्रतिदिन नियमित समय पर अलग अलग जप करते है—या नहीं भी करते हैं, उन्हें चाहिए कि वे वर्ष मे एक या दो बार अवश्य ही संगठित रूप से अखण्ड जप करने का प्रयत्न करें। अखण्ड जप मे सामूहिक जप होता है और वह भी नियत अवधि तक ही; अत. भक्ति-रस का समुद्र बहाने के लिए, वर्ष भर के आध्यात्म-सम्बन्धी आलस्य तथा मांद्य को दूर फैंक देने के लिए, तथा संघ में अपूर्व धर्म-जागृति की भावना पैदा करने

के लिए, यह एक सर्वश्रेष्ठ साधन है। अखण्ड जप का प्रयोग आगरा, महेन्द्र गढ़, रायकोट, अंबाला, पटियाला, इन्दौर, उज्जैन आदि कितने ही क्षेत्रों में किया गया है और सभी क्षेत्रों से बड़े बड़े अनुभवी एवं विद्वान साधु-श्रावकों की सम्मति है कि वर्तमान काल में यह क्रिया जैन-संघ के लिए अतीव-लाभप्रद है।

अखण्ड जप के लिए पर्युषण पर्व के आठ दिन बड़े ही सुन्दर हैं। इन दिनों धर्म-ध्यान का ठाठ प्रतिवर्ष लगता ही है, और यदि साथ ही अखण्ड-जप भी हो तो सोने में सुगन्ध हो जाय! दीप-मालिका आदि दूसरे पर्व भी उपयुक्त हैं। संक्षेप में बात यह है कि कोई सा भी सुन्दर समय देख कर अखण्ड जप का श्री वीतरागाय नमः (प्रारम्भ) किया जा सकता है।

अखण्ड जप कितने दिन करना चाहिए? इस के लिए निश्चित नियम नहीं बताया जा सकता। यह नियम अपनी परिस्थितियों पर निर्भर है। पर्युषण पर्व के समय आठ दिन का होना चाहिए। यदि कारण वश इतना लंबा न हो सके तो पर्युषण को

पूर्णाहुति पर तीन दिन का तो होना ही चाहिए। दीप-मालिका आदि पर तीन दिन का ही ठीक होता है। अन्य अवसरों पर यदि कहीं संघ में अधिक उत्साह हो तो १५ दिन या इस से भी अधिक किया जा सकता है। यह तो अपना उत्साह है, जितना गुड़ डाला जायगा उतना ही मीठा होगा। परन्तु साधारणतया तीन या आठ दिन का अखण्ड जप सहजसाध्य एवं अधिक उत्साह-वर्द्धक होता है। अखण्ड जप मे यह नियम है कि जिस समय जप प्रारम्भ किया जाय उसी समय उस की समाप्ति होनी चाहिए। सूर्योदय से प्रारम्भ करके सूर्योदय पर ही समाप्त करना अधिक संगत है।

अखण्ड जप मे कितने महानुभावों को भाग लेना चाहिए? यह प्रश्न भी विचारणीय है। दिन रात के २४ घंटे होते हैं, अतः एक एक घंटे की वारी वाले २४ सज्जन तो आवश्यक है ही। यदि संघ में जन-संख्या अधिक हो तो एक साथ दो दो की वारी के हिसाब से ४८ सज्जन होने चाहिएं। एक की अपेक्षा एक साथ दो सज्जनों का बैठना अधिक लाभप्रद है। अन्य सज्जन भी यथावसर जप मे भाग लेना चाहें तो ले सकते हैं, कोई हानि नहीं,

लाभ ही है। यहाँ यह अवश्य ध्यान मे रहे कि प्रत्येक सज्जन अपने निर्धारित समय पर एक घंटे की ड्यूटी के लिए पहले से ही उपस्थित हो जायं। कहीं यह न हो कि जप कर्ता की प्रतीक्षा मे विलम्ब हो जाय, फलतः अखण्ड जप ही खण्डित हो जाय।

अखण्डजप की विधि यह है कि—प्रथम तो स्थान शुद्ध, स्वच्छ, प्रकाशमय तथा एकान्त हो। जब तक स्थान की पवित्रता तथा एकान्तता न होगी, तब तक हृदय मे उल्लास नहीं पैदा होगा। जप भी निर्विघ्नतया न हो सकेगा। दूसरे पूर्व तथा उत्तर की ओर मुख कर के ही साधकों को जप करना चाहिए। अन्य दिशाओं में जप आदि कोई भी धर्म-कृत्य करना, शास्त्र में निषिद्ध है। जप करने वालों के वस्त्र, आसन, मुख-वस्त्रिका, माला आदि उपकरण भी शुद्ध तथा स्वच्छ होने चाहिएं। अखण्ड जप के लिए यदि ये सब उपकरण अलग ही हों तो और भी अधिक ठीक है। जहां जप करने वाले बैठें, उन के ठीक सामने एक चौकी होनी चाहिए, जो मध्य मे स्वस्तिक 卐 से अङ्कित श्वेत वस्त्र से ढँकी हुई हो। उस पर अखण्ड जप में काम आने वाली चार

पाँच मालाएं रख देनी चाहिएं, एक प्याले में लौंग (अन्य भी कोई अचित्त मंगलद्रव्य रक्खा जा सकता है) भर कर रख देनी चाहिएं, ताकि प्रत्येक साधक अपनी माला की गिनती के लिए एक एक लौंग पास ही के दूसरे खाली प्याले में डालता रहे। इस के द्वारा जप-संख्या के परिगणन में सुविधा रहती है। अखण्ड जप के प्रारम्भ मे और समाप्ति पर लोगस्स आदि का मंगल पाठ करना भी आवश्यक है। प्रत्येक शुभ कार्य के प्रारम्भ मे और समाप्ति पर मंगल पाठ करना, हमारी प्राचीन भारतीय सभ्यता है। अखण्ड जप की समाप्ति पर अनाथों तथा गरीबों को दान आदि का प्रबन्ध भी होना चाहिए। किसी भी मंगल कार्य के अवसर पर किया हुआ दान विशेष लाभ का कारण होता है।

अखण्ड जप में भाग लेने वाले सज्जनों को नीचे लिखे नियमों पर भी अवश्य ध्यान देना चाहिए। वाक् शुद्धि के साथ साथ मनः शुद्धि भी तो होनी चाहिए, जिस के विना जीवन में उत्क्रान्ति हो ही नहीं सकती।

नियम इस प्रकार हैः—

(१) भोजन सादा तथा जहां तक हो सके एक बार।

(२) असत्य तथा दुर्वचन न बोला जाय।

(३) व्यापार आदि में छल कपट भी न हो।

(४) तम्बाकू, बीड़ी आदि के उपयोग से भी बचना चाहिए।

(५) ब्रह्मचर्य का पालन भी आवश्यक है।

—: १५ :—

स्तोत्र—पाठ

मंगल

अरिहंत नमुक्कारो,
जीवं मोयइ भवसहस्साओ।
भावेण कीरमाणो,
होइ पुणो वोहि-लाभाए ॥१॥
अरिहंत—नमुक्कारो,
सव्व-पाव-प्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं,
पढमं हवइ मंगलं ॥ २ ॥
सिद्धाणं नमुक्कारो,
जीवं मोयइ भवसहस्साओ।
भावेण कीर-माणो,
होइ पुणो वोहि-लाभाए ॥ ३ ॥
सिद्धाणं नमुक्कारो,
सव्व-पाव-प्पणासणो।

मंगलाणं च सव्वेसिं,

वीयं हवई मंगलं ॥ ४ ॥

आयरिय–नमुक्कारो,

जीवं मोयइ भवसहस्साओ ।

भावेण कीरमाणो,

होइ पुणो वोहि–लाभाए ॥५॥

आयरिय–नमुक्कारो,

सव्व–पाव–प्पणासणो ।

मंगलाणं च सव्वेसि,

तइयं हवइ मंगलं ॥ ६ ॥

उवज्झाय–नमुक्कारो,

जीवं मोयइ भवसहस्साओ ।

भावेण कीरमाणो,

होइ पुणो वोहि-लाभाए ॥७॥

उवज्झाय-नमुक्कारो,

सव्व-पाव-प्पणासणो ।

मंगलाणं च सव्वेसिं,

चउत्थं हवइ मंगलं ॥ ८ ॥

साहूण नमुक्कारो,

जीवं मोयइ भवसहस्साओ ।

भावेण कीरमाणो,

होइ पुणो वोहि-लाभाए ॥९॥

साहूणं नमुक्कारो,

सव्व-पाव-प्पणासणो ।

मंगलाणं च सव्वेसिं,

पंचमं हवइ मंगलं ॥१०॥

आत्म रक्षा

परमेष्ठि-नमस्कारं

सारं नवपदात्मकम्

आत्मरक्षा-करं वज्र–

पंजराभं स्मराम्यहम् ॥१॥

ॐ नमो अरिहंताणं,

शिरस्कं शिरसि स्थितम् ।

ॐ नमो सव्व-सिद्धाणं,

मुखे मुखपट वरम् ॥२॥

ॐ नमो आयरियाणं,

अंगरक्षाऽतिशायिनी ।

ॐ नमो उवज्झायाणं,

आयुधं हस्तयोर्दृढम् ॥३॥

ॐ नमो लोए सव्वसाहूणं,

मोचके पादयोः शुभे ।

एसो पंच नमुक्कारो,

शिला वज्रमयी तले ॥ ४ ॥

सव्वपावप्पणासणो,

वप्रो वज्रमयो वहिः ।

मंगलाणं च सव्वेसिं,

खादिरङ्गार-खातिका ॥५॥

स्वाहान्तं च पदं ज्ञेयं,

पढमं हवइ मंगलं ।

वप्रोपरि वज्रमयं,
पिधानं देह-रक्षणे ॥६॥
महा-प्रभावा रक्षेयं,
क्षुद्रोपद्रव-नाशिनी ।
परमेष्ठिपदोद् भूता,
कथिता पूर्व-सूरिभिः ॥ ७ ॥
यश्चैवं कुरुते रक्षां,
परमेष्ठि-पदैः सदा ।
तस्य न स्याद् भयं व्याधि,
राधिश्चापि कदाचन ॥ ८ ॥

———:0:———

कीर्तन

अरिहंता मज्झ मंगलं,
अरिहंता मज्झ देवयं ।
अरिहंते कित्तइस्सामि,
वोसिरामित्ति पावगं ॥ १ ॥

सिद्धा मज्झ मंगलं,

सिद्धा मज्झ देवयं।

सिध्देत्ति कित्तइस्सामि,

वोसिरामित्ति पावगं ॥ २ ॥

आयरिया मज्झ मंगलं,

आयरिया मज्झ देवयं।

आयरिए कित्तइस्सामि,

वोसिरामित्ति पावगं ॥३॥

उवज्झाया मज्झ मंगलं,

उवज्झाया मज्झ देवयं।

उवज्झाए कित्तइस्सामि,

वोसिरामित्ति पावगं।

सव्व-साहू मज्झ मंगलं,

सव्व-साहू मज्झ देवयं।

सव्व-साहू कित्तइस्सामि,

वोसिरामित्ति पावगं ॥५॥

वन्दन

(१)

राग–द्वेष महामल्ल घोर घन घाति कर्म,
नष्ट कर पूर्ण सर्वज्ञ पद पाया है।
शान्ति का साम्राज्य समोसरण में कैसा सौम्य,
सिंहनी ने दूध मृगशिशु को पिलाया है।
अज्ञानान्धकार-मग्न विश्व को दयार्द्र होके,
सत्य-धर्म-ज्योति का प्रकाश दिखलाया है।
'अमर' सभक्ति-भाव वार वार वन्दनार्थ,
अरिहंत–चरणों में मस्तक झुकाया है।

(२)

जन्म, जरा, मरण के चक्र से पृथक भये,
पूर्ण सत्य चिदानन्द शुद्ध रूप पाया है।
मनसा अचिन्त्य तथा वचसा अवाच्य सदा,
क्षायक स्वभाव में निजातमा रमाया है।
संकल्प-विकल्प-शून्य निरंजन निराकार,

माया का प्रपंच जड़ामूल से नशाया है।
'अमर' सभक्तिभाव वार वार वन्दनार्थ,
पूज्य सिद्ध-चरणों में मस्तक झुकाया है।

(३)

आगमों के भिन्न-भिन्न रहस्यों के ज्ञाता ज्ञानी,
उग्रतम चारित्र का पथ अपनाया है।
पक्षपातता से शून्य यथायोग्य न्यायकारी,
पतितों को शुद्ध कर धर्म में लगाया है।
सूर्य-सा प्रचण्ड तेज प्रतिरोधी जावें झेंप,
संघ में अखण्ड निज शासन चलाया है।
'अमर' सभक्तिभाव वार वार वन्दनार्थ,
गच्छाचार्य-चरणों में मस्तक झुकाया है।

(४)

मन्द-बुद्धि शिष्यों को भी विद्या का अभ्यास करा,
दिग्गज सिद्धान्तवादी पंडित बनाया है।
पाखंडी जनों का गर्व खर्व कर जगत में,

अनेकान्तता का जयकेतु फहराया है।
शंका समाधान द्वारा भविकों को बोध देके,
देश पर-देश ज्ञानभानु चमकाया है।
'अमर' सभक्तिभाव वार वार वन्दनार्थ,
उपाध्याय-चरणों में मस्तक झुकाया है।

(५)

शत्रु और मित्र तथा मान और अपमान,
सुख और दुःख द्वैतचिन्तन हटाया है।
मैत्री और करुणा समान सब प्राणियों पै,
क्रोधादि-कषाय-दावानल भी बुझाया है।
ज्ञान एवं क्रिया के समान दृढ़ उपासक,
भीषण समर कर्म-चमू से मचाया है।
'अमर' सभक्तिभाव वार वार वन्दनार्थ,
त्यागी मुनि-चरणों में मस्तक झुकाया है।

जय जय

अरिहंत जय जय !
सिद्ध-प्रभू जय जय !
साधु-जन जय जय !
जिन-धर्म जय जय !

मंगल

अरिहंत मंगल !
सिद्ध-प्रभू मंगल !
साधु-जन मंगल !
जिन-धर्म मंगल !

उत्तम

अरिहंत उत्तम !
सिद्ध-प्रभू उत्तम !
साधु-जन उत्तम !
जिन-धर्म उत्तम !

शरण

अरिहंत शरण !

सिद्ध-प्रभू शरण !

साधु-जन शरण !

जिन-धर्म शरण !

यह चार शरण दुखहरण जगत में,
और न शरणा कोई होगा ।
जो भवि-प्राणी करे आदरण,
उसका अजर अमर पद होगा ॥

—: १६ :—

धुन

(१)

जय श्री अर्हन्, सिद्ध अविकार;
जय गणी, वाचक, जय अनगार !

(२)

देव हमारा श्री अरि–हंत;
गुरू हमारा त्यागी संत !

(३)

अधम उद्धारण श्री अरिहंत;
पतित पावन भज भगवंत !

(४)

श्रमण भगवंत श्री महावीर;
त्रिशलानन्दन हरियो पीर !

(५)

तिहुँ–जग–वंदन त्रिशलानन्दन,
पाप – निकंदन प्यारा !

सुर, नर, मुनिवर निश दिन ध्यावें,

भारत का उजियारा !!

(६)

भज महावीरं भज महावीरं;

महावीरं भज महा-वीरं !

(७)

ऋषभ जय प्रभु पारस जय जय;

महावीर जय गुरू गौतम जय जय !

(८)

सब से बढ़ कर है नव-कार;

करता है भवसागर ... पार !

(९)

चौदह पूर्व का यह सार,

बारं-बार जपो नव-कार !

ऊपर जो ध्वनियाँ लिखी गई है, बड़ी ही भावोत्पादक हैं। आज के युग में इन को 'धुन'

कहते हैं, और ये कीर्तन–जप में अधिक प्रयुक्त होती हैं। साधारण शिक्षित भी ध्वनियों के जप से आत्म-शान्ति पा सकता है। यदि पाँच चार या इस से अधिक सज्जन मिल कर तन्मयता के साथ मधुर-स्वर से ध्वनि का गायन करें, तो हृदय मे महान आनन्द का समुद्र हिलोरें लेने लगेगा। वार वार एक ही ध्वनि का ऊँचे स्वर से किया हुआ कीर्तन, हृदय मे कोमलता, सरसता, मधुरता तथा भावुकता पैदा कर देता है और श्रोतृ–वर्ग मे भी भक्ति-योग की अपूर्व ज्योति चमका देता है।

परिशिष्ट

(१)

एक-सौ आठ गुण

बारस गुण अरिहंता,
सिद्धा अट्ठेव सूरि-छत्तीसं ।
उवज्झाया पणवीसं,
साहू सगवीस अट्ठसयं ॥

प्राचीन आचार्यों ने नवकार मंत्र के एक सौ आठ गुण बतलाए हैं। नवकार के एक सौ आठ गुण हैं, इस का अभिप्राय यह है कि नवकार के प्रथम खण्ड में जो पाँच पद हैं, उन पद के अधिष्ठाता महापुरुषों मे सब के सब मिल कर एक सौ आठ गुण होते हैं। अरिहंत, सिद्ध आदि महान पवित्र और विकसित आत्माओं में क्या इतने थोड़े से ही गुण है ? यह प्रश्न अपने मन मे लाने का कष्ट न करें। पांचों पदों के गुणों की कोई सीमा नही है, अनन्त गुण हैं। समुद्र के जल बिन्दुओं तथा हिमालय के परमाणुओं की गिनती कर लेना तो सहल है, परन्तु अरिहंत आदि महान आत्माओं के गुणों की इयत्ता पा लेना सहल नहीं। इयत्ता तो

जब पाई जाय, जब कि कोई इयत्ता हो। वहां तो जो कुछ है अनन्त ही अनन्त है। जब कि गुण अनन्त हैं, उन की कभी कोई सीमा ही नहीं हुई, फिर यह एक सौ आठ गुणों की कल्पना कैसी ? उक्त प्रश्न का समाधान यह है कि प्राचीन आचार्यों ने जो एक सौ आठ गुणों की सूची तैयार की है, वह मात्र भव्य जीवों को पांच पदों के महत्व पूर्ण गुणों की एक साधारण सी झाँकी दिखाने के लिए है! गुणों का स्थूल दृष्टि से परिचय कराना ही, उक्त कल्पना का मुख्य उद्देश्य है।

अरिहंतों के १२ गुण

भगवान अरिहंत प्रभु के १२ गुण होते है, उन मे से आठ तो प्रातिहार्य के नाम से कहे जाते हैं और चार अतिशय के नाम से। प्रातिहार्य का अभिप्राय प्रतिहारी यानी द्वारपाल से है। जिस प्रकार प्रतिहारी अपने स्वामी के पास द्वार पर उपस्थित रहता है, उसी प्रकार यथावसर आठ प्रातिहार्य भी जिनेश्वर देव के समीप उपस्थित रहते हैं। आठ

प्रातिहार्य का सम्बन्ध नियमित रूप से तीर्थंकरों के साथ ही होता है। आठ प्रातिहार्यः—

अशोक वृक्षः सुरपुष्पवृष्टिः,
दिव्यध्वनिश्चामरमासनं च।
भामंडलं दुन्दुभिरातपत्रं,
सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम् ॥

(१) अशोक वृक्ष।
(२) देवों द्वारा कृत्रिम पुष्पवर्षा।
(३) दिव्य ध्वनि, योजनगामिनी वाणी।
(४) मनोहर चामर युगल।
(५) अतीव श्रेष्ठ सिंहासन।
(६) भामंडल, मस्तक के समीप तेजःपुंज।
(७) मधुर-ध्वनि वाला दुन्दुभि वाद्य।
(८) तीन छत्र।

अतिशय का अर्थ उत्कृष्टता अर्थात् विशेषता होता है। अरिहंत भगवान की वैसे तो अगणित विशेषताएं हैं, परन्तु चार विशेषताएं मूल मानी जाती हैं। प्रातिहार्य और अतिशय मे अन्तर यह है कि प्रातिहार्य बाह्य विभूति स्वरूप होते हैं और अतिशय आन्तरिक विभूतिरूप। प्रातिहार्य की

अपेक्षा अतिशय अरिहंत भगवान के अन्तरंग व्यक्तित्व को अधिक स्पष्ट रूप मे व्यक्त करते हैं। वे चार अतिशय ये हैं:—

(१) अपायापगम अतिशय—

यह महान अतिशय विशेषरूप से ध्यान देने योग्य है। इस का शाब्दिक अर्थ होता है, 'अपाय-उपद्रव और अपगम-नाश'। अर्थात् जो अतिशय उपद्रवों का – आपत्तियों का पूर्ण रूप से नाश करता है, वह अपायापगमातिशय होता है।

उक्त अतिशय के दो भेद हैं— स्वाश्रयी और पराश्रयी। स्वाश्रयी का सम्बन्ध अपने से है और पराश्रयी का सम्बन्ध दूसरों से। अपनी अन्तरात्मा में रहे हुए काम क्रोध, मद, अज्ञान, मिथ्यात्व, भय, शोक, घृणा, निन्द्रा आदि दोषों का नाश जिस से होता है, वह स्वाश्रयी अपायापगमातिशय कहलाता है। और जिस के द्वारा भगवान के समीप आने वाले दूसरे प्राणियों की आधिव्याधि का नाश होता है वह पराश्रयी अपायापगमातिशय कहा जाता है। यह मान्यता है कि जहां भगवान विचरते हैं वहाँ

आस पास महामारी, भय, वैर, अतिवृष्टि और दुष्काल आदि उपद्रव नहीं होते। भगवान के समवसरण में सर्प और नकुल चूहा और बिल्ली, मृग और सिंह आदि जन्मशत्रु प्राणी भी पारस्परिक द्वेष भाव को छोड कर प्रेम और स्नेह के वातावरण में एक दूसरे के साथ भाई जैसा व्यवहार करते हैं। कितना शान्त और पवित्र दृश्य होता है वह !

अरिहंत भगवान की उक्त लोकोत्तर विभूति के सम्बन्ध मे आश्चर्य करने जैसी कोई बात नहीं है। जो बातें सर्वसाधारण लोगों को असम्भव सी मालूम देती हैं, वही महापुरुषों के जीवन मे बिल्कुल साधारण होती हैं। आजन्म दरिद्रता के शाप से पीड़ित वृद्धा को जिस प्रकार चक्रवर्ती सम्राट के वैभव की कल्पना नहीं आ सकती, ठीक उसी प्रकार मोह माया मे संलग्न संसारी लोगों की दशा भी अरिहंत भगवान की लोकोत्तर विभूतियों की कल्पना करने में है। पातंजल योग दर्शन मे योग विद्या के बड़े ही महत्वपूर्ण चमत्कारों का वर्णन किया गया है। आकाशगमन, अदृश्यता, विश्वमोहकता आदि अनेक सिद्धियों का उल्लेख, हमारे विश्वास की

दृढ़ता के लिए पर्याप्त हैं। आज कल भी कितने ही योगी अपने चमत्कारों से लोगों को आश्चर्य मे डाल देते है। अस्तु, जब कि साधारण योगियों के विषय मे यह बात है तो फिर संसार के सर्व-श्रेष्ठ महान योगी एवं अध्यात्म-विद्या के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचे हुए अरिहंत भगवान के अलौकिक चमत्कारों का तो कहना ही क्या ? वे तो अन्दर और बाहर सब ओर से चमत्कार ही चमत्कार रखते हैं !

(२) ज्ञान अतिशय—

ज्ञानातिशय केवल ज्ञान और केवल दर्शन से सम्बन्धित है। अरिहंत भगवान् के केवल ज्ञान में सम्पूर्ण लोकालोक विम्ब, दर्पण में प्रतिविम्ब के समान, पूर्णतया प्रतिभासित होता है। संसार का कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं, जो भगवान के ज्ञान की पहुँच से बाहर हो।

(३) पूजा अतिशय—

अरिहंत भगवान संसार में सर्व-पूज्य माने जाते है। क्या राजा क्या महाराजा, क्या सेठ क्या साहूकार, क्या देव क्या इन्द्र सब कोई भगवान की

स्तुति वन्दना के लिए लालायित रहते हैं, और जब कभी सेवा का अवसर मिलता है तो अपने आप को धन्य धन्य मानते है। पूजातिशय एक प्राकृतिक अतिशय है, जो विरोधी से विरोधी को भी अपनी ओर आकृष्ट करता है एवं उस के हृदय में पूजा-प्रतिष्ठा के संकल्प जागृत कर देता है।

(४) वचन अतिशय—

भगवान की वाणी का चमत्कार बड़ा ही महत्व-पूर्ण है। भाषा मे इतना माधुर्य तथा प्रसाद गुण होता है कि साधारण से साधारण श्रेणी का श्रोता भी सुन कर हर्ष से गद् गद् हो जाता है और अपने जीवन सुधार के लिए उचित सामग्री प्राप्त कर लेता है। क्या देव, क्या मनुष्य और क्या तिर्यञ्च प्रत्येक मुमुक्षु प्राणी भगवान की वाणी से लाभ उठाते हैं, और अपना यथाविधि आत्म-कल्याण करते हैं।

सिद्धों के ८ गुण

मोक्षपद को साध लेने वाले सिद्ध कहलाते हैं। सिद्ध अवस्था में बन्ध और बन्ध के कारणों

का अभाव होने से पूर्ण पवित्रता का साम्राज्य होता है। सिद्ध भगवान के आठ गुण बतलाए है। आत्मा पर जब तक आठ कर्मों का लेप रहता है, तब तक वह संसारी रहता है और जब आठ कर्मों से सर्वथा रहित हो जाता है तो वही सिद्ध बन जाता है। आठ कर्मों में से एकेक कर्म के क्षय करने से एकेक गुण की प्राप्ति होती है। स्पष्टीकरण के लिए नीचे देखिए:—

कर्म	गुण
(१) ज्ञानावरणीय:— यह कर्म विशेष बोधस्वरूप ज्ञान को ढँकने वाला है। आवरण का अर्थ ढँकना या परदा होता है।	ज्ञानावरण के क्षय से केवल ज्ञान की प्राप्ति होती है, जिस से समग्र लोकालोक का स्वरूप हस्तामलकवत् होजाता है।
(२) दर्शनावरणीय:— यह कर्म आत्मा की सामान्य बोध करने वाली चेतना शक्ति को आच्छादित करता है।	दर्शनावरण के क्षय से केवल दर्शन की प्राप्ति होती है, जिस के द्वारा अखिल पदार्थों के सामान्य धर्मों का प्रत्यक्ष बोध होता है।

(३) अन्तरायः—यह कर्म आदान प्रदान भोगोपभोग आदि मे विघ्न डालने वाला है।

अन्तराय के क्षय से अनन्तवीर्य की प्राप्ति होती है। अनन्तवीर्य, आत्मा की वह विशेष शक्ति है, जिस के द्वारा आत्मा अपने पूर्णां-स्वरूप में विकसित हो जाता है।

---

(४) मोहनीयः—यह कर्म आत्मा की विवेक शक्ति को मोहित करने वाला है। इस के उदय से सत्यासत्य का विवेक नष्ट हो जाता है।

मोहनीय के क्षय से अनन्त चारित्र की प्राप्ति होती है। क्षायक सम्यक्त्व एवं अनन्त चारित्र होने के पश्चात् आत्मा कभी भी मोह दशा को प्राप्त नही होता।

---

(५) नाम कर्मः-यह कर्म-आत्मा को नरक आदि गतियों तथा एकेन्द्रिय आदि जातियों मे भ्रमण कराता है। शरीर आदि

नाम के क्षय से अरूपी गुण की प्राप्ति होती है। नाम कर्म के अस्तित्व में ही शरीर का अस्तित्व है और शरीर के अस्तित्व मे

अथवा तत्कालीन संघ में सर्व श्रेष्ठ, ४ मधुर वचन, ५ गंभीर, ६ धैर्य, ७ उपदेश देने मे तत्पर, ८ अविस्मृति, ९ सौम्य, १० संग्रहशील, ११ अभिग्रह मतिवाला, १२ विकथा न करने वाला, १३ अचपल, १४ प्रशान्त।

क्षमा आदि दश धर्म—१ क्षमा, २ आर्जव-सरलता, ३ मार्दव-कोमलता, ४ मुक्ति-निर्लोभता, ५ तप ६ संयम, ७ सत्य, ८ शौच, ९ अकिंचनत्व-निष्परिग्रहता, और १० ब्रह्मचर्य।

बारह भावना—१ अनित्य, २ अशरण, ३ संसार, ४ एकत्व, ५ अन्यत्व, ६ अशुचि, ७ आस्रव, ८ संवर, ९ निर्जरा, १० लोकस्वरूप, ११ बोधि दुर्लभ, १२ धर्म।

—: दूसरा प्रकार —

पाँच इन्द्रियों का दमन। ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियां। चार कषाय का त्याग। पाँच महा व्रत। पाँच आचार। पाँच समिति। तीन गुप्ति।

— तीसरा प्रकार .—

१ आचार संपदा, २ श्रुत संपदा, ३ शरीर संपदा, ४ वचन संपदा, ५ वाचना संपदा, ६ मति संपदा,

७ प्रयोग संपदा, ८ संग्रह संपदा। उक्त आठ संपदाओं के प्रत्येक के चार चार भेद होने से सब ३२ गुण होते हैं। (१) आचार विनय, (२) श्रुत विनय, (३) विक्षेपण विनय, और (४) दोष परिघातन विनय, ये चार भेद विनय के जोड़ने से पूरे ३६ गुण आचार्य के हो जाते है। प्रस्तुत पुस्तक में संक्षेप दृष्टि से काम लिया जा रहा है, अत. संपदाओं के भेद प्रभेद विस्तार से नहीं वर्णन किए हैं। विशेष जिज्ञासा रखने वाले दशाश्रुतस्कन्ध और प्रवचन सारोद्धार आदि के वाचन का कष्ट उठाए।

उपाध्यायों के २५ गुण

उपाध्याय ज्ञान के प्रतिनिधि हैं। उप का अर्थ पास और अध्याय का अर्थ अध्ययन है, अतः उपाध्याय का अर्थ हुआ कि जिस के पास अध्यात्म-विद्या का अध्ययन किया जाय, वह उपाध्याय। उपाध्याय के प्राचीन आचार्यों ने २५ गुण बतलाए हैं। आचारांग आदि ११ अंग और औपपातिक आदि १२ उपांग तथा चरण (नित्य आचरण किया जाने वाला चारित्र, महाव्रत आदि) और करण (प्रयोजन

होने पर आचरण करना और प्रयोजन न रहने पर न करना, प्रतिलेखना समिति आदि)। संक्षेप में भाव यह है कि ग्यारह अंग और बारह उपांगों का अध्ययन अध्यापन तथा चरण करण का पालन उपाध्यायों के लिए अत्यावश्यक है।

साधुओं के २७ गुण

साधु शब्द 'साध्' धातु से बना है, जिस का अर्थ साधना होता है। उक्त धातु पर से बने साधु शब्द का व्युत्पत्ति सिद्ध अर्थ यह होता है कि जो संयम की, त्याग की, वैराग्य की, आत्म-सिद्धि की साधना करता है, वह साधु। आत्म-साधना के लिए साधुओं के अनेक गुण होते हैं। प्राचीन आचार्यों ने उन गुणों में से २७ गुण मुख्य माने हैं और वे इस प्रकार हैं:—

(१-६) छः व्रत—प्राणातिपातविरमण, मृषावाद-विरमण, अदत्तादानविरमण, मैथुनविरमण, परिग्रहविरमण, और रात्रिभोजनविरमण।

(७-१२) छ काया की रक्षा— पृथिवीकाय,

अप् काय, तेज काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय की रक्षा ।

(१३ - १७) पाँच इन्द्रियों का निग्रह—स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुइन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय, उक्त पाँच इन्द्रियों का निग्रह एवं दमन करना ।

(१८) लोभनिग्रह—लोभ पर विजय पाना ।

(१९) क्षान्ति—शत्रु मित्र सब पर क्षमा रखना ।

(२०) भावशुद्धि—हृदय के भावों की निर्मलता ।

(२१) प्रतिलेखना—वस्त्रादि की प्रतिलेखना करना ।

(२२) संयम क्रिया में सावधान रहना ।

(२३) अशुभ मन का निरोध करना ।

(२४) अशुभ वचन का निरोध करना ।

(२५) अशुभ काया का निरोध करना ।

(२६) शीत आदि परीषह सहना ।

(२७) मृत्यु सम्बन्धी उपसर्ग भी सहन करना ।

(२)

प्रश्नोत्तर

प्रश्न—नवकार को मंत्र क्यों कहते हैं? मंत्र तो जादू टोने के लिए होते हैं।

उत्तर—मंत्र का सम्बन्ध जादू टोने से है, यह कहा का उल्लेख है? मंत्र शब्द स्वयं एक अतीव पवित्र और प्रभावशाली शब्द है, उस का जादू टोनों से कोई सम्बन्ध नहीं! खेद है कि मूर्ख लोगों ने जादू को मंत्र कह कर मंत्र शब्द के गौरव को मिट्टी मे मिला दिया है। हां तो मंत्र शब्द का सीधा शाब्दिक अर्थ यह है कि जो मनन करने से, चिन्तन करने से साधक की दु.खों से त्राण-रक्षा करता है, वह मंत्र है। 'मंत्र. परमो ज्ञेयो मननत्राणे ह्यतो नियमात्।' मंत्र शब्द की उक्त व्युत्पत्ति नवकार में ठीक तौर से घटित होती है, अत नवकार को मंत्र कहने की प्राचीन परम्परा सर्वथा सत्य है। भला नवकार से बढ़ कर आत्मा को पवित्र बनाने वाला, जीवन मे सदाचार के आदर्श का प्रकाश फैंकने वाला, अनादि कालीन कर्मजन्य दु खों से छुटकारा

दिलाने वाला मंत्र दूसरा और कौन हो सकता है?

प्रश्न—नवकार दुःखों से कैसे छुटकारा दिला सकता है? क्या इस से अरिहंत सिद्धों मे कर्तृत्व नहीं आ जाता?

उत्तर—नवकार के द्वारा महापुरुषों का चिन्तन किया जाता है, हृदय में पवित्र विचारों का प्रवाह बहाया जाता है, काम, क्रोधादि दोषों का वेग कम होता जाता है, फल स्वरूप आत्मा कर्म भार से हलका होता है, और फिर कर्मजन्य दुःखों से छुटकारा अपने आप हो जाता है। इस का यह अर्थ नहीं कि अरिहंत सिद्ध आदि हमारी स्तुति से प्रसन्न होते हैं और हमें दुःखों से मुक्ति दिलाते हैं। जो कुछ भी होता है साधक को अपनी साधना से ही होता है। भावना शक्ति अतीव बलवान है, जो जैसा चिन्तन-मनन करता है वह वैसा हो जाता है। श्रद्धामयो ऽयं पुरुषः यो यच्छ्रद्धः स एव सः। यह कौन नहीं जानता कि वीरों का संस्मरण मनुष्यों को वीर बनाता है, और कायरों का कायर!

प्रश्न—नवकार के जप से तीर्थंकर पद की

प्राप्ति कैसे हो सकती है ? क्या जप मे इतनी शक्ति है ?

उत्तर—नवकार के जप से तीर्थंकर पद की प्राप्ति में कुछ भी असंभवता नहीं है ! ज्ञाता सूत्र में वर्णन आता है कि 'अरिहंत तथा सिद्ध आदि की उत्कृष्ट भक्ति से स्तुति करता हुआ साधक, तीर्थंकर पद का उपार्जन कर सकता है।' नवकार में अरिहंत, सिद्ध आचार्य, उपाध्याय, साधु की स्तुति की गई है, उन्हें नमस्कार की गई है। अतएव यदि हृदय को उत्कृष्ट भक्ति-रस से परिप्लावित करते हुए नवकार का जप किया जाय तो तीर्थंकर पद की प्राप्ति मे कुछ भी संशय नहीं।

प्रश्न—आचार्य आदि को तो नमस्कार का होना सम्भव है, क्योंकि वे साक्षात रूप से हमारे सामने है। परन्तु सिद्धों को नमस्कार किस तरह हो सकती है ? उन तक नमस्कार का पहुँचना किसी तरह भी सम्भव नहीं।

उत्तर—नमस्कार वह क्रिया है, जिस के द्वारा नमस्करणीय महापुरुषों का बहुमान तथा अपनी

नम्रता एवं लघुता व्यक्त हो। संस्कृत भाषा में यही भाव इस रूप मे प्रगट किया है— 'मत्तस्त्वमुपकृष्ट स्त्वत्तो ऽ हमपकृष्ट', एतद्द्वय बोधनानुकूलव्यापारो हि नमः शब्दार्थं ।' उक्त नमन क्रिया के दो भेद हैं द्रव्य और भाव। द्रव्य अर्थात् व्यवहार नमस्कार वह है, जिस मे दो हाथ, दो पैर और मस्तक—इस भांति पाँच अगों के द्वारा प्रणाम किया जाता है। यह नमस्कार साक्षात् रूप से सिद्धों के समक्ष घटित नहीं होती। क्योंकि सिद्ध भगवान हमारे से परोक्ष हैं। परन्तु द्रव्य नमस्कार के साथ हृदय शुद्धि एवं भक्तिभावुकता—स्वरूप जो भाव नमस्कार है, वह तो निश्चय नय की दृष्टि से हो ही जाता है। सिद्ध भगवान केवल ज्ञानी हैं, अतः वे हमारी वन्दना ज्ञान मे देख ही लेते है। क्यों कि परोक्षता, या अन्तरता सब हमारी दृष्टि में ही है। उन के ज्ञान में तो परोक्षता या अन्तरता कहीं है ही नहीं।

प्रश्न—नवकार मंत्र में मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ भावनाओं में से कौनसी भावना है? नमस्कार, एक भावात्मक क्रिया है, अतः यह प्रश्न उपस्थित होता है?

उत्तर—नवकार मंत्र मे प्रमोद भावना का अंश है। प्रमोद भावना वह भावना है, जिस के द्वारा गुणी जनों को देख कर, सुन कर या स्मरण कर हृदय गद् गद् हो जाता है। मन सत्पुरुषों के पवित्र जीवन पर मस्त हो झूमने लग जाता है, और उन के गुणों को अपनाने के लिए आतुर हो उठता है। नवकार में संसार के पांच आध्यात्मिक जीवनों का संस्मरण है, अतः नमस्क्रिया के द्वारा हृदय हर्ष से पुलकित हो जाता है, दुर्गुणों के प्रति घृणा एवं सद् गुणों के प्रति प्रेम पैदा हो जाता है।

प्रश्न नवकार का जप करते समय कितने पदों का जप करना चाहिए ?

उत्तर—माला अथवा अनानुपूर्वी आदि के रूप में नवकार का जप करना हो तो पांच पद का ही जप करना चाहिए। मूल पद पांच हैं, अतः नमस्कार भी पांच पदों को ही होती है। पांच पदों के आगे जो पद्यात्मक चार पद हैं, वे नमस्कार की महिमा के लिए हैं। अत जप के समय उन का प्रयोग नहीं किया जाता।

प्रश्न—क्या अग्रिम चार पद कभी पढ़े ही नहीं जाते ?

उत्तर—पढ़े क्यों नहीं जाते ! जप के अलावा जब समूचा नवकार पढ़ना हो तो पांच पदों के बाद अग्रिम चार पद भी साथ ही पढ़ने चाहिएं। जिस प्रकार भवन के ऊपर शिखर होता है, उसी प्रकार पंच-पदात्मक नवकार के ऊपर चार पद शिखर-रूप हैं। अतएव प्राचीन ग्रंथों में उन को चूलिका कहा जाता है। नमस्कारावलिका आदि ग्रंथों मे कार्य विशेष होने पर चूलिका के ध्यान का भी विधान किया गया है। वहां लिखा है कि हृदय-भूमि पर बत्तीस पँखुड़ी के एक कमल का संकल्प किया जाय और प्रत्येक पँखुड़ी पर चूलिका का एकेक अक्षर पढ़ा जाय। चूलिका के पूरे तेतीस अक्षर हैं, अतः अवशिष्ट तेतीसवां अक्षर बत्तीस पँखुड़ियों के ठीक बीच में रही हुई कर्णिका पर पढ़ना चाहिए। चूलिका के ध्यान की यह प्रक्रिया बड़ी ही सरस एवं प्रभावोत्पादक है।

प्रश्न,-नवकार के नव पदों से अक्षय अंक की ध्वनि सूचित होती है। यह ध्वनि प्रगट करती है कि जिस प्रकार नव का अंक अक्षय है, अखण्डित है, उसी प्रकार नवपदात्मक नवकार की साधना करने वाला

साधक भी अक्षय, अजर, अमर पद प्राप्त कर लेता है। क्या इस के अतिरिक्त दूसरी भी कोई ध्वनि नव के अंक से सूचित होती है ?

उत्तर—हां, होती है। नव के पहाड़े की गिनती मे ९ का अंक मूल है। तदनन्तर क्रमश १८, २७, ३६, ४५, ५४, ६३, ७२, ८१, ९० के अंक हैं। इस पर से यह भाव ध्वनित होता है कि आत्मा के पूर्ण विशुद्ध रूप का प्रतीक ९ का अंक है, जो कभी खंडित नहीं होता। आगे के अंकों मे दो दो अंक हैं। उन मे पहला अंक शुद्धि का और दूसरा अंक अशुद्धि का प्रतीक है। समस्त संसार के अबोध प्राणी १८ के अंक की दशा मे है। उन में विशुद्धि का मात्र एक छोटा सा अंश है और अशुद्धि आठ हिस्सा है। यहां से साधना का जीवन शुरू होता है। थोड़ी सी साधना के पश्चात् आत्मा को २७ के अंक का स्वरूप मिल जाता है। भाव यह है कि शुद्धि के क्षेत्र मे एक अंश और बढ़ जाता है, और उधर अशुद्धि मे एक अंश कम हो कर मात्र ७ अंश रह जाते हैं। आगे चल कर ज्यों ज्यों साधना लंबी होती जाती है त्यों त्यों शुद्धि के अंश बढ़ते जाते हैं,

और अशुद्धि के अंश कम होते जाते हैं। अन्त में
जब कि साधना पूर्ण रूप में पहुँचती है तो शुद्धि का
क्षेत्र पूर्ण हो जाता है, और उधर अशुद्धि के लिए
मात्र शून्य रह जाता है। संक्षेप में ९० का अंक
हमारे सामने यह आदर्श रखता है कि साधना के
पूर्ण हो जाने पर साधक की आत्मा पूर्ण विशुद्ध हो
जाती है, उस में अशुद्धि का एक लघु अंश नाम मात्र
के लिए भी नहीं होता। अशुद्धि के सर्वथा अभाव का
प्रतीक ९० के अंक मे ९ के आगे का ० शून्य है।
नवकार महामंत्र की शुद्ध-हृदय से साधना करने
वाला साधक भी ९ के पहाड़े के समान विकसित
होता होता अन्त मे ९० के रूप में अर्थात् सिद्ध-रूप
मे पहुँच जाता है, जहां आत्मा मे मात्र अपना निजी
शुद्ध रूप ही रह जाता है, कर्मों का अशुद्ध अंश
सदाकाल के लिए पूर्णतया नष्ट हो जाता है।
'कर्मबद्धो भवेज्जीव. कर्ममुक्तस्तथा शिव. ।'